

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५३८ अंक-१७०, वर्ष-१५, नवम्बर-२०११

दि.२९-११-१९३९, आत्मसिद्धि शास्त्र के प्रवचन की गाथा-१४०-१४२ पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन

ज्ञानी की दशा का विशेष वर्णन करते हैं :-

**'सकळ जगत ते एठवत्, अथवा स्वप्न समान;
ते कहीए ज्ञानीदशा, बाकी वाचाज्ञान।' १४०**

गुजराती भाषा में 'आत्मसिद्धि' की अपूर्व रचना की है। सभी घरों में इसका प्रचार होना चाहिए। जो कहा गया है वह बहुत से जीवों को उपकार का निमित्त होवे ऐसा सरल है। भादों शुक्ला सातम से इसके व्याख्यान (प्रवचन) शुरू किये हैं, जिसे आज ७२ दिन हुए हैं। इसमें निष्कषपाततापूर्वक सब कुछ कहा गया है। लोग मध्यस्थ होकर विचारपूर्वक बारंबार इसका घोलन करे तो उन्हें आत्मख्याति (आत्मसिद्धि) हुए बिना नहीं रहे। उत्तम भोजन से भरा हुआ थाल मिले और भूखा रह जाय वह जीव दुर्भागी है। कई तरह से बात कही गई है। कुलधर्म का आग्रह इत्यादि बहुत से विरोध मिटाकर अविरोध तत्त्व को समझने की यह अपूर्व रचना निर्मित है। इसमें सरल भाषा में विस्तारपूर्वक बहुत कहा गया है। किसी धर्मी, पुण्यवंत आत्मार्थी जीवों के भाग्यवश यह अपूर्व योग हुआ है। किन्तु यदि स्वयं पुरुषार्थ न करे और प्रमाद करे, संसार का प्रेम दूर न करे, और तत्त्व का अपूर्वरूप से महिमा-विचार, अभ्यास, मनन न करे तो वह जीव दुर्भागी है, यानी सच्चे सुख का अर्थी नहीं है। इस 'आत्मसिद्धि' की रचना मध्यस्थतापूर्ण रहकर मोक्षमार्ग के उद्देश्य से तथा शुष्कज्ञानी व क्रियाकांडी - दोनों को समझाने हेतु कही है।

अब कहते हैं कि आत्मार्थी धर्मात्मा का वैराग्य कैसा होगा ? कि वे सकल जगत को झूठन जैसा अथवा स्वप्नसमान जानकर निर्मम रहते हैं। असंगतापूर्वक जाने कि आत्मा अनादि अनंत है; आठ कर्म की प्रकृति, उसके अनंते रजकण (परमाणु) अनंतबार देहरूप में, कार्मण शरीररूप में, एक आकाशक्षेत्र में इस आत्मा के समीप आ गये। जीव



ने देह को व सुंदर दिखनेवाले देव के भव इत्यादि को भला समझकर देखे हैं, भोगे हैं और उसमें सुख-दुःख की मिथ्या कल्पना करके उसे अपना माना है। उसमें चैतन्यगुण नहीं है, शुभाशुभभाव अशुचिमय है, चैतन्य की शांति के योग के सामने ये सब पुण्य-पाप के संयोग, देहादि परद्रव्य, सर्व पुद्गल झूठनवत् है, अशुचिमय है; उसका संग करने से पराधीनता है, उपाधि है, दुःख है। पुण्य हो या पाप हो - दोनों बंधन हैं।

ज्ञानी धर्मात्मा आत्मज्ञान द्वारा संसार से यानी पुण्य-पाप से वैराग्य पाकर सदबोध चंद्रोदय का पान करते हैं; और समस्त शुभ-अशुभ भाव मिटाकर उससे मुक्त होते हैं, निराकुल शांति-अनहद आनंद को भोगते हैं। ज्ञानी पुण्य को हेय समझते हैं, जब कि अज्ञानी उसे आदरणीय मानते हैं। अतः उस अशुचिमय वस्तु को पुद्गल का विकार जानकर संसार की मोहदशा को हे भव्य जीवों ! छोड़ो ! अनंतज्ञानी भी यही कहते हैं। उसका उपाय आत्मा की सच्ची समझ है; अन्य कोई उपाय नहीं है।

'अपूर्व अवसर' काव्य में कहा है कि 'रजकण के रिद्धि वैमानिक देवनी, सर्वे मान्या पुद्गल एक स्वभाव जो।' इस प्रकार मुमुक्षु आत्मार्थी पुण्य को भी नहीं चाहते, सड़ा हुआ काला श्वान हो, उसके शरीर में अनेक पिल्लू पड़ गये हो और मल मैल भरे हो उस पर द्वेष या ग्लानि न करे; और इन्द्राणी जैसी सुंदर रूपवान स्त्रियाँ दिखे उसमें राग न करे। उन दोनों में राग-द्वेष या अंतरक्षोभ नहीं होता। वे दोनों समान है, एक ही प्रकार के जड़ परमाणु की रचना है। क्षणभर में वे सड़े हुए कुत्ते के रजकण गुलाब के फूल की सुगंधरूप हो जाते हैं। अतः हे चेतन ! अपनी परम सुंदरता की महिमा भूलकर (अनादर करके) अशुचिमय पुद्गल परमाणु में मोह क्यों करता है ? आत्मा पूर्ण ज्ञानघन पवित्र है, उसे पुण्य के साधनवाला मानना, पुण्य से सुखी

मानना यह भूल है, भगवान का भक्त प्रीतिपूर्वक पुण्यरूप मैल को क्यों चाहे ? ज्ञानी धर्मात्मा परभाव की उपाधि को नहीं चाहते; फिर भी पूर्व प्रारब्ध के योग से बाहर से क्रिया दिखे पर उसमें उन्हें रुचि नहीं है। चक्रवर्ती जैसे धर्मात्मा को हज़ारों स्त्रियाँ, राज्य इत्यादि का योग बाहर से दिखे फिर भी वे महावैराग्यवंत हैं, संसार से छूटने का उपाय करते हैं। जिस प्रकार कूड़े के घूरे में विष्टा या गुलाब का ढेर दोनों समान है; उस प्रकार ज्ञानी अंतर में सकल जगत को झूठन के बराबर मानते हैं; और मोक्षमार्ग में प्रवर्तन करते हैं। समस्त जगत जिसने झूठन के बराबर जाना है वह किसीका वमन किया हुआ क्यों खायेगा ? रजकणों का अनंतबार आत्मप्रदेश से संयोग हुआ, फिर भी वे तेरे नहीं हुए। वे तो ज्ञेय मात्र हैं। जगत में संसार एकांत दुःखपूर्वक जल-भुन रहा है। इस भयंकर, संसार का भय (भव का भय) जिसके हृदय में लगा है उसे संसार का परमाणुमात्र कैसे पसंद आये ? अनित्य ऐसा संसार केवल दुःखमय है। दुःख पर के कारण नहीं है, किन्तु अपने में भूलवाली मान्यतारूप अपना अज्ञान ही दुःख (संसार) है। संसार स्वप्न समान है; वह असार, स्वप्नवत्, क्षणिक जगत जो ज्ञानी के ज्ञान में उदासीन भाव से दिखे, वह ज्ञानी की दशा है; बाकी तो कथनमात्र केवल ज्ञान धारणा है। १४०.

अब मोक्ष कौन पाता है वह कहते हैं :-

'स्थानक पांच विचारीने, छट्टे वर्ते जेह;

पामे स्थानक पांचमुं, एमां नहि संदेह।' १४१

आत्मा है, नित्य है, अज्ञानभाव से राग-द्वेष का कर्ता और हर्ष-शोक का भोक्ता है, और स्वभाव के भान में निर्दोष ज्ञान का कर्ता और शांति, सुख, सहज आनंद का भोक्ता है, मोक्ष है, - इस प्रकार यथार्थ न्याय से ये पाँचों स्थानक सोचकर जो छटे में रहे अर्थात् मोक्ष के उपाय में रहे

वह पाँचवाँ स्थानक (मोक्ष) प्राप्त करता है। अंतरविचार यही ज्ञान की क्रिया है, वह अंतर का साधन है, कई जगह गूढ़ रीति से 'विचार' शब्द श्रीमद्जी ने बताया है, 'कर विचार तो पाम।' 'औषध विचार ध्यान,' 'अंतर विचार,' 'विचारवा आत्मार्थी ने,' 'एम विचारी अंतरे,' 'ते बोधे सुविचारणा,' 'ज्यां प्रगटे सुविचारणा,' 'ऊपजे ते सुविचारणा' 'जुओ विचारी मर्म।' 'पूछ्यां करी विचार,' 'विचारतां विस्तारथी संशय रहे न काई,' इत्यादि प्रकार से विचारदशा कही है। विचार है वह अंतर की क्रिया है। वह मन, वाणी व देह की क्रिया से पर है। जिस विचार में रागांश को ज्ञान द्वारा भिन्न करके तत्त्वमनन होता है, वह ज्ञान की क्रिया है, यहाँ सुविचारदशा की बात कही है; अतः ज्ञानी के एक-एक वाक्य पर बहुत विचार करना।

तत्त्वविचार बिना मार्ग हाथ में आये ऐसा नहीं है। विशालबुद्धि व मध्यस्थता द्वारा परीक्षा करनी चाहिए। अनंत ज्ञानियों ने कहा और कह रहे हैं वह तो उनके अंदर रहा, परंतु तेरा सत्त्व तेरे पास है अतः अपनेआप विचार करना है, किसीके आशीर्वाद से कल्याण नहीं होता। अनंत ज्ञानी हो गये, उनको बहुत जीवों का उद्धार होने का विकल्प आने पर भी किसी परद्रव्य का परिणमन कराने का - समझाने का सामर्थ्य उनके अंदर भी नहीं है। सामनेवाला जीव तैयार होकर पात्रता लाये तो ज्ञानी निमित्त होवे। प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है, पर से निराला है; अतः स्व और पर वस्तु को यथार्थरूप से जाननी पड़ेगी, उसकी अनेक न्याय से सिद्धि (निर्णय-प्रमाण) करनी पड़ेगी। वस्तुस्वभाव जैसा है वैसा समझे बिना सच्चे निमित्त के मिलने पर भी क्या उपकार हो ? अतः प्रथम शास्त्रवांचन, मनन व सत्समागपूर्वक आत्मा का विचार करना। इसका विचार न करे वह आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकेगा। ज्ञानीपुरुष कह गये हैं वही श्रीमद्जी

ने 'आत्मसिद्धि' में कहा है कि 'कर विचार तो पाम।' शास्त्र में जो आज्ञा समकित कहा है वह व्यवहारवचन है। आज्ञाप्रधान से परीक्षाप्रधान - निर्णयप्रधान खास काम का है। अतः नित्य सत्समागम व तत्त्व की भावना बढ़ानी और वस्तुतत्त्व का यथार्थ निर्णय करना। श्री सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि आज्ञा ही धर्म है, आज्ञा ही तप है। आज्ञा ही हमारा धर्म - यह उत्तम बात जगत के जीवों के लिये उन्होंने कही है। पर वह आज्ञा कैसी है यह जाने बिना वह आज्ञा लागू नहीं होती, अतः वाक्य के पीछे वाच्य क्या है यह समझने की मेहनत स्वयं को करनी चाहिए।

केवल वाणी का विचार मत करो, परंतु वीतराग प्रभु का कहना क्या है उस भाव का विचार करो। सर्वज्ञ वीतराग की वाणी, भाववचन, वाच्य क्या है उसका गहराई से निर्णय करो तो सच्ची श्रद्धा - सम्यग्दर्शन प्रगट होगा ही इसलिये यहाँ पर कहा है कि 'स्थानक पांच विचारीने छट्टे वर्ते जेह, पामे स्थानक पांचमुं, एमां नहि संदेह।' सब कुछ अपने पर निर्भर रखा है, और कहा है कि जो निश्चयरत्नत्रय में प्रवर्तमान रहे वही अनंत सुखस्वरूप मोक्षपद को प्राप्त करता है। खुद विचारकर देख; तू ही निर्णय करके अंतरमें से साक्षी ला, निःसंदेह जाति का निर्णय कर। स्वरूपनिर्णय - सम्यग्दर्शन होने पर 'छट्टे वर्ते जेह' यानी जो कोई पाँच स्थानक का विचार करके मोक्ष के उपाय में (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र में) रहे वह साधकभाव है। 'जे वर्ते ते पामे।' सच्चे देव, गुरु की प्रतीति, श्री अरिहंत ने जो मार्ग बताया वह मार्ग क्या है, उसे मानकर (- स्वीकार करके), समझकर उसमें आत्मार्थी साधक को खुद को प्रवर्तन करना है, खुद को ही मार्ग काटना है।

रागरहित शुद्ध स्वचतुष्टय में (स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव में) (स्थित आत्मा जैसा है वैसा

अविरोध विधि से बताया, परंतु जो जीव यथार्थ विचारपूर्वक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप मोक्षमार्ग में अविरोधरूप से प्रवर्तन करेगा वह शुद्ध आत्मा को पायेगा। 'एक होय त्रण काळमां परमारथनो पंथ, प्रेरे ते परमार्थने ते व्यवहार समंत।' जिस जाति का निश्चय-परमार्थ है उसी जाति के पुरुषार्थरूप व्यवहार ही मोक्षमार्ग है। तीनों काल के ज्ञानियों ने जो निःसंदेहमार्ग बताया है, उस निःसंदेहतापूर्वक जो मोक्षमार्ग में प्रवर्तन करे वह परमार्थ को प्राप्त करता है। १४१.

अब अंतिम मंगल कहते हैं :-

'देह छतां जेनी दशा, वर्ते देहातीत;

ते ज्ञानीना चरणमां, हो वंदन अगणित।' १४२

'अगणित' शब्द कहकर महामांगलिक कहा है। अंतिम व उत्कृष्ट देह होने पर भी सर्वज्ञ वीतरागदेव की अंतरदशा पूर्ण शुद्ध है, अतः वे देहातीत हैं। नीचे की भूमिका में सम्यग्दर्शन हो वहाँ पर अंतरंग अभिप्राय से ज्ञानदशा प्रवर्तमान रहती है। सम्यग्दर्शन होने पर एक न्याय से (भावि नैगमनय से) मोक्ष हुआ ऐसा भी कहा जाता है। पूर्ण शुद्ध असंग आत्मतत्त्व कैसा है, कितना बड़ा है, किस प्रकार प्राप्त हो, कितना बाकी यह सब ख्याल में आ गया। पूर्व प्रारब्धयोग से जिसकी देह विद्यमान है, पर उस देह से अतीत यानी भावकर्म, द्रव्यकर्म तथा नोकर्म के आश्रय से रहित केवल शुद्ध आत्ममय जिसकी दशा रहती है, उन ज्ञानीपुरुष के चरणों में अगणित वंदन हो। जिस प्रकार पानीवाले श्रीफल में नरेली के साथ नारियल

का गोला चिपका हुआ दिखता था, उसका रस - चिकनाहट सूख जाने पर वह गड़गड़िया आवाज करनेवाला नारियल बन जाने पर गोला बिल्कुल अलग दिखता है, इस प्रकार देहात्मबुद्धि से देहादि तथा राग-द्वेष में पहले एकता मानी थी उसे टालकर, भिन्नत्व जाना - अनुभव किया, वह आत्मा देहातीत है। अपना सहज आत्मस्वरूप शुद्ध है, स्वाधीन है, - ऐसा यथार्थरूप से माना उसे राग-द्वेष की भावना कैसे हो सकती है ? देह मेरे हैं, पुण्य-पाप मेरे हैं; राग-द्वेष मेरे हैं, करने लायक है, ऐसी श्रद्धा जिसको ज़रा भी नहीं है, ऐसी दशावाली देह होते हुए भी देहातीत भी कहे जाते हैं। पवित्र वीतराग सर्वज्ञदेव ने 'हो वंदन अगणित' यह बेहद, अपरिमित, अमाप, अनंत अनंत वंदन, द्रव्य और भावनमस्काररूप है।

वंदन का विकल्प टूटकर, बेहद - अपरिमित शुद्ध स्वभाव में स्थिर हो जाऊँ - ऐसा आशय यहाँ पर है। जिसे पूर्ण शुद्ध साध्यदशा प्रगट हुई है ऐसे ज्ञानी को वंदन हो 'अगणित' ! इस प्रकार सर्वोत्कृष्ट अप्रतिहत भाव का आदर करके महामांगलिक किया है। अति आदर अनंत गुण का है, पूर्ण स्वभाव का आदर है, उसमें तनिक भी अपूर्ण भाव का आदर नहीं है। जिसकी हद नहीं है ऐसे पूर्ण, पवित्र, अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्य हैं, उन्हें प्रगट करने के लिये उस ज्ञानी को वंदन करके क्षायिक केवलज्ञान तक पहुँचने के लिये यह 'आत्मसिद्धि' जयवंतता को प्राप्त होती है। इति। १४२.

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (नवम्बर-२०११) का शुल्क श्री वालजीभाई विसंजी सावला, मुंबई के नाम से साभार प्राप्त हुआ है, जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।



**पूज्य बहिनश्री के वचनामृत, वचनामृत-२१३ पर
पूज्य भाईश्री शशीभाई का प्रवचन,
प्रवचन नं.१७२ (दि.५-११-१९८७, भावनगर)**

(आज श्रीमद् राजचंद्रजी का जन्मदिन है।) आज से १२० साल हुए। २०४४ चलता है, १२० साल हुए। जहाँ-जहाँ उनके (अनुयायीगण) हैं वे लोग आज का दिन मनाते हैं। पीछली शताब्दि में १९२० वीं शताब्दि में महा प्रज्ञावंत विशेष निर्मल ज्ञान का उघाड जिन्हें था, जिनके वचन पत्र के रूप में रह गये तो भी हजारों जीवों का ध्यान खींचा कि वर्तमान परम्परा व संप्रदाय से इसका विषय कोई और है, अथवा किसी भी प्रकार की बाह्यक्रिया, मन-वचन-काया की, संयम आदि की बाह्यक्रिया या शास्त्रवाचनादि की बाह्यक्रिया - इन तमाम प्रकार की बाह्य क्रियाओं से अंतरंग परिणमन यह कोई अलग चीज है। (इस तरफ) बहुत अनूठे रूप से (ध्यान) खींचा है। चौबीस वें वर्ष में जो काव्य लिखा है - 'यम-नियम, संयम आप कियो; मुनि त्याग विराग अथाग लह्यो।' इसमें सारी बातें ले ली हैं। त्याग की, संयम की, ध्यान, पूजा, शास्त्रवांचन की सब की बातें ले ली हैं।

बाह्य जीवों के लिये अनादि से अनजाना मार्ग है। जैसे अंधजन देख नहीं सकता, जैसे अंधजन को किस दिशा में जाना यह मुश्किल से (किसी के बतलाने पर) पता चलता है, वैसे अनादि मिथ्यादृष्टि की (ऐसी स्थिति है)। जिसके कारण अनन्त... अनन्त... दुःखी (है)। त्रस पर्याय में तो बहुत मर्यादितकाल है। परिभ्रमण कर रहे जीव का अनन्त काल तो निगोद में ही जाता है। निगोद में जाता है मतलब अनन्त दुःख में जाता है। ऐसी परिस्थिति देखकर निष्कारण करुणा से, जिसको किसी से कोई अपेक्षा नहीं, अंतरंग से जो निस्पृह हैं, उन्होंने मार्ग बताया है, दिखाया है, स्पष्टरूप से दिखाया है।

'गुरुदेवश्री' को तो (मैंने ही) प्रश्न पुछा है कि, 'उनके पत्रों में मोक्षमार्ग अखण्डरूप से प्रसिद्ध हो रहा है, ऐसा लगता है।' 'गुरुदेवश्रीने (कहा था) हाँ, ठीक

ऐसी ही बात है। बात तो ऐसी ही है। क्योंकि स्वानुभवमें से निकली हुई वाणी है। जिसमें स्वानुभव का विषय मुख्यरूप से आये बिना कैसे रहे ? यानी कि इसमें मोक्षमार्ग अखण्डरूप से सुरक्षित है जिसकी परम्परा चलती है, यह बात वहाँ भी ठीक वैसे ही है। पात्र जीव हो तो उसमें से भी मार्गप्राप्ति कर सकता है, कर लेता है। संस्कार लेकर आया हो तो, क्योंकि वर्तमान में उनकी उपस्थिति नहीं है किन्तु कोई जीव यदि संस्कार लेकर आता है तो उनके वचन के निमित्त से अवश्य मार्गप्राप्ति कर लेवे।

'कृपालुदेव' के नाम से उनकी प्रसिद्धि है। गृहस्थ होने के बावजूद भी 'देव' की पदवी से उन्हें संबोधित किया जाता है। भगवानतूत्य इन्हें माना जाता है। भगवान ही माने जाते हैं, भगवानतूत्य ही मानते हैं क्योंकि भगवान के वचन में भी तिरने का निमित्त है, इसमें लेंगे। २१४ में यह निमित्त की बात है। सद्गुरु के उपदेश में, निमित्त में पूर्ण शक्ति है; परन्तु तू यदि पात्र न हुआ तो तुझे आत्मदर्शन कहाँ से प्रगट हो ? २१४ की शुरुआत ही ऐसे करते हैं।

पूर्व के कोई आराधक जीव होंगे। वर्तमान में तीव्र पुरुषार्थ किया है। आयुष्य बहुत अल्प लेकर -३३ साल का लेकर आये थे। जन्म से गिने तो ३३ साल व पाँच महीने की उम्र में उनका देहांत हुआ है। इतने अल्प आयुकाल में केवल एक भव ही बाकी रह जाये इतनी मात्रा में उनका पुरुषार्थ उग्र था।

'श्रीमद् राजचंद्रजी' की जन्मजयंती है न ! अति निर्मल परिणति लेकर वैमानिकदेव में गये हैं। वहाँ से मनुष्यक्षेत्र में आकर चरमशरीर अवधारण करके निर्वाणदशा को प्राप्त करेंगे। मुनिदशा अंगिकार करेंगे, संपूर्ण चारित्र की सिद्धि होगी व निर्वाणदशा की प्राप्ति होगी। अपने ही निर्मलज्ञान में उन्हें यह भासित हुआ है। एक अंगत

काव्य में उन्होंने यह बात अंकित की है। 'धरी ने एक ज देह जाशुं स्वरूप स्वदेश।' अतः वर्तमान मुमुक्षु समाज पर हजारों लोगों पर इनका उपकार वर्तता है।

जो-जो आत्मभाव शब्दों द्वारा उनके पत्रों में प्रसिद्ध हुए उनसे हजारों जीवों पर आज भी उपकार होता है। जबकि १०० साल में तो कितने जीवों ने आयु पूर्ण किया। फिर भी नये-नये भी बहुत से परिचय में (आते हैं)। दुनिया तो हरहमेश आवागमन का मेला है, कोई शाश्वत तो है नहीं। पुराने बिदा होते हैं, नये का आगमन होता है। पुराने जाते हैं (और नये आते हैं)। शासन के पुण्य अनुसार ये सब बनता है। किसी विरल जीव को इसकी गोली लगती है (और) आत्मप्राप्ति कर लेता है। एक असामान्य निमित्त उसके लिये आत्मभाव में बन जाता है (और) उसका बेड़ा पार हो जाता है। कभी ऐसा नहीं बनता कि, संप्रदाय में आये हुए सारे जीवों का मोक्ष हो जाये। ऐसा तो तीर्थकरदेव की उपस्थिति में भी नहीं बना, बनना संभव भी नहीं है। बहुत अल्प जीव भले ही मोक्षमार्ग को पाते हो तो भी संख्या से इसकी कीमत नहीं है, प्राप्त होते हैं इसकी बहुत बड़ी कीमत है, बहुत बड़ी बात है।

अतः आज के दिन के निमित्त से उनके निर्मल ज्ञान का, निर्मल दर्शन का उनके स्वतंत्र पुरुषार्थ की योग्यता का स्मरण करने का यह दिन है। जो ज्ञानी को पहचानता है.. उसके लिये तो 'ज्ञानी' कहते ही; जैसे सोने की जिसे पहचान है उसको सोना कहते ही वर्णन करने की जरूरत नहीं पड़ती कि इसमें से जेवर बनते हैं, यह पीला होता है, चमक होती है, ऐसा कुछ कहने की जरूरत नहीं है। नाम सुनते ही जैसे इसकी कीमत आती है। वैसे किसी भी ज्ञानी का इसतरह नाम सुनते ही उनकी महिमा और उनका मूल्य समझ में आ जाता है।

गृहस्थदशा में कोई विशेष भावना उन्होंने व्यक्त की हो तो 'अपूर्व अवसर' है। अभी एक पुस्तक प्रसिद्ध हुआ, किसी व्यक्तित्व ने बनाया है। वैराग्यभावना में पीछे, अपूर्व अवसर के प्रवचन छपे हैं। ७९ की साल में हुए 'गुरुदेवश्री' (कानजीस्वामी) के प्रवचन हैं। ७९ वीं साल में। ७९वीं साल में। बहुत पुराने शुरूआती प्रवचन, शैली

थोड़ी अलग ही दिखायी देती है। बारम्बार ऐसा कहते हैं कि गृहस्थदशा में ऐसे भाव तो कोई लाओ !! यानी कि गृहस्थदशा में क्या, मुनिदशा में हो बाह्यवेश में तो भी ऐसे भाव देखे नहीं जाते। इन्हें तो गृहस्थ में जवाहरात का व्यवसाय करते-करते ऐसे परिणाम हुए हैं !! अंतरंग में भावना कितनी विशेष रसयुक्त होगी कि जो काव्य के रूप में प्रवाहित हो गई !! ऐसे भावों में कितनी भावना भरी होगी !! सोच में पड़ जाये ऐसा विषय है।

अतः यों कहना है कि जिनको ज्ञानी होना है और जो ज्ञानी हुए हैं उन्हें ऐसे भाव होते हैं। किसी के प्रदर्शित होते हैं तो किसी के भले ही प्रदर्शित न हो परन्तु उस दशा में ऐसी ही भावना, ऐसी ही भावना होती है। और ऐसी भावनावाले ही वैसी दशा को प्राप्त होते हैं। यह बात भी इसमें से स्पष्ट होती है, प्रसिद्ध होती है। यह असाधारण विषय लिया है। मेरी मुनिदशा ऐसी हो। मेरा समभाव ऐसा हो। क्रोध-मान-माया-लोभ के परिणाम संबंधित मेरी प्रवर्तना ऐसी हो। इस दशा में आगे बढ़कर मैं एक-एक गुणस्थान चढ़कर अरिहंतदशा तक प्राप्ति करूँ और शैलेषीकरण की अंतिम अवस्थामें से आगे मोक्ष में चला जाऊँ। पुरुषार्थ तो वह अनन्त पुरुषार्थ है और अभी भले ही इतना पुरुषार्थ नहीं चल रहा है फिर भी यह मेरे मनोरथ का विषय है ऐसे भावना में आते हैं। उस दृष्टि से इसका एक अनूठा स्थान है। अनूठा स्थान है इसका।

चलते विषय में ले तो। चलता अधिकार है 'बहिनश्री के वचनामृत' ग्रंथ में बोल-२१३ पन्ना ७३ है।

मुमुक्षु :- ऐसे महापुरुष को याद, स्मरण करने से हमारा क्या प्रयोजन होना चाहिये ?

पूज्य भाईश्री :- ऐसी महानता, ऐसे गुण, ऐसी दशा प्राप्त करने की प्रथम तो भावना होगी। उनके स्मरण के निमित्त से ऐसी दशा मुझे भी प्राप्त हो वैसी भावना होगी। और उन्होंने जो कुछ भी कहा है उनका जो सत्स्वरूप सम्बन्धी उपदेश है और सत्प्राप्ति सम्बन्धित जो मार्गदर्शन है उस पर उपयोग जायेगा, मुख्यरूप से ज्ञान की प्रवृत्ति होगी। केवल बहुमान का राग करके बैठे रहने का प्रश्न नहीं है, परन्तु ज्ञान की प्रवृत्ति हो

यह मुख्य बात है यहाँ।

हित-अहित की दृष्टि से विचार करें तो सत्पुरुष के गुणग्राम है वह दर्शनमोह का रस तोड़ने का, तूटने का कारण है, गलने का कारण है। अतः इनके कोई भी जनमदिन या किसी भी बहाने उनके गुणग्राम जहाँ गाया जाता है वहाँ उस भावना में दर्शनमोह भी गलता है; उन्होंने स्वयं तो जहाँ-जहाँ वक्ता या वाचनकार को मार्गदर्शन दिया है वहाँ ऐसा ही कहा है कि जब तक सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान प्रगट नहीं हुआ है तब तक तेरा ज्ञान पारमार्थिक विषय को, निजस्वरूप को छुआ नहीं है, उस विषय में अभी तुम अनभिज्ञ हो अतः जिस विषय में तू ही स्वयं अनभिज्ञ हो उस विषय में तू क्या कर पायेगा ? शास्त्रमें से पढ़ी हुई या किसी सत्पुरुष की धारणाज्ञान से मिली बात कहेगा तो भी मूल में मार्ग तो देखा नहीं है तो दूसरे को तू कैसे मार्ग दिखायेगा ? जो तुने देखा नहीं वह तू किसी दूसरे को कैसे दिखायेगा ? यह तो स्पष्ट परिस्थिति है। धारणा यह कोई चीज़ नहीं, वस्तु नहीं है तो फिर जिसको ज्ञान होने के पहले शास्त्रवाचन का उदय हो ऐसे जीव को क्या करना ? कि मुख्यरूप से उसको सत्पुरुष का गुणग्राम करना ऐसा मार्गदर्शन दिया है। भक्ति में चढ़ जाने का विषय नहीं है, यह दर्शनमोह का गालने का विषय है। इसके पीछे, तत्त्व है इसमें। ऐसा कहने के पीछे भक्ति में चढ़ा देने की बात नहीं है या व्यक्तिपूजा में चढ़ा देना है ऐसी बात भी नहीं है। परन्तु सत्पुरुष के गुणग्राम है वह सच में दर्शनमोह को गालने का कारण है ऐसा जानकर इसके पीछे परमार्थ क्या है ? यह बात उन्होंने गूढ़ रखी है।

७५९ में तो वह बात भी स्पष्ट की है उन्होंने। सम्यक्दर्शन का कारण लिया है। पात्रता में भी इसे पात्रता का मुख्य विषय लिया है। गौर से देखे तो कई जगह से यह बात निकलती है। यह विषय बिलकुल स्पष्ट है कि, दर्शनमोह का रस गले, इसकी शक्ति गले, रस गले मतलब दर्शनमोह-मिथ्यात्व की-मिथ्यात्व कर्म की और मिथ्यात्व के परिणाम की - दोनों की बात हैं। शक्ति गलने पर वर्तमान ज्ञान में स्वरूप निश्चय हेतु जो अपेक्षित योग्यता, जो अपेक्षित निर्मलता, जो क्षमता चाहिये इसकी

प्राप्ति होती है। दर्शनमोह की तीव्रता में कभी स्वरूपनिश्चय नहीं हो सकता जो कि सम्यक् सन्मुखता में कारणभूत है। जो यहाँ पर होता है - दर्शनमोह गलने पर स्वरूपनिश्चय होता है। इसीलिये ज्ञानी के संग में रहनेवाला, ज्ञानी के चरणों में रहनेवाला शीघ्रता से प्राप्ति करता है। इसका कारण यही है कि, उसका दर्शनमोह गल गया यही कारण है।

'गुरुदेवश्रीने मार्गदर्शन तो दिया है। 'धन्य अवतार' पुस्तिका में यह विषय स्पष्टरूप से, बहुत जोर देकर विषय को स्थापित किया है स्वयंने। भले ही कारण-कार्य की वहाँ चर्चा न की हो परन्तु आदेश कहो, फरमान कहो, आज्ञा कहो वह तो स्पष्ट ही है।

क्या कहते हैं ? कि 'लोग क्या कहेंगे ऐसा देखने से-' अथवा ऐसे अभिप्राय से अथवा ऐसा लक्ष्य रहने से 'चैतन्यलोक में नहीं पहुँचा जा सकता।' कोई जीव चैतन्यलोक में नहीं जा सकता। चैतन्यलोक अर्थात् अपना स्वरूप। निज चैतन्यप्रकाश जहाँ अनन्त भरा पड़ा है उसमें उपयोग नहीं जा सकता। क्योंकि उसकी दृष्टि बाहर ही बाहर लोगों पर जमी रहती है। किसी जीव में अगर लोकसंज्ञा दिखे तो चाहे जैसी तत्त्व की बात करता हो तो भी नियम से मिथ्यादृष्टि है यह बात सिद्ध हो चुकी है, साबित हो चुकी है, कोई परीक्षा करने की वहाँ जरूरत नहीं रहती। यह लोकसंज्ञा एक ऐसा विषय है।

'श्रीमद्जी' ने तो उस विषय पर तो लोकसंज्ञा पर तो प्रहार किया है कि लोकसंज्ञा है वह प्रत्यक्ष ज़हर है ऐसा जब तक भासित नहीं होगा तबतक सत्पुरुष का कहने का आशय है उस पर जीव की वृत्ति (लक्ष्य) नहीं जाती। परमार्थ का विषय जो कहना चाहते हैं उसपर जीव की वृत्ति जा नहीं सकती। क्योंकि उसकी वृत्ति लोकसंज्ञा में अटकी है। समाज क्या कहेगा ? ऐसा करूँगा तो समाज क्या कहेगा ? और तीनोंकाल ऐसा बनता आया है कि बड़ा समुदाय अज्ञानियों का हंमेशा रहा है, संप्रदाय का रहा है, जबकि ऐसे निकृष्ट काल में तो ऐसा ही होगा। और बहुत अल्प संख्या ऐसे काल में ज्ञानी के पक्ष में होने से, ज्ञानी का अनुसरण करनेवालों की होने से; कोई भी जीव जब संप्रदाय से अलग होकर, समाज

से अलग होकर ज्ञानी का संग करने का भाव करता है तब तद्विषयक थोड़ा विरोध अवश्य होता ही है। परन्तु वह कोई गिनने जैसा विषय नहीं है। वह कोई तूल्य देने जैसा विषय नहीं है। आत्मा के हित से कोई चीज अधिक नहीं है।

इस जगत में मेरा आत्मा और मेरा आत्महित इससे अधिक कुछ नहीं है। ऐसा सीधा हिसाब आत्मार्थी लगा चूका है। इसका ऐसा मूल्यांकन व निर्णय की वजह से समाज-बमाज की कोई गिनती करने का प्रश्न उसके मन में उपस्थित नहीं होता। हमलोगमें से तो काफी लोग संप्रदाय छोड़कर ही आये हैं। बहुत से लोग इसतरह आये हैं। स्वयं 'गुरुदेवश्री' का इतिहास भी ऐसा ही है। किसी को लगा जैसे हमने तो संप्रदाय छोड़ दिया, संप्रदाय की हम परवा नहीं करते। ऐसे थोड़ी ज्यादा कीमत दे दी। संप्रदाय में बहुत गड़बड़ी है, संप्रदायवाले हमें बहुत कहते हैं, सगे-सम्बन्धी हमें बहुत सुनाते हैं, यह आपने क्या किया ? ऐसा क्यों किया ? ऐसा क्यों किया ? परन्तु हम परवाह नहीं करते, हम बिलकुल परवाह नहीं करते। इसतरह बिना परवाह किये आ गये तो जैसे बहुत बड़ी बात हो गई। जैसे लेकिन ऐसे भी लेने जैसा नहीं है, ऐसे लेना ठीक नहीं। यह बात तो चर्चा चलती थी कि बहुत सामान्य बात है। मुमुक्षु को, आत्मार्थी जीव को समाज की उपेक्षा करके चलना तो बहुत आसान बात है। इतना पुरुषार्थ व इतनी शक्ति तो बहुत प्रारम्भ में ही आ जानी चाहिये। अभी आगे रास्ता बहुत बाकी है। संप्रदाय बदलने से कोई गढ़ नहीं जीत लिया। अभी तो बहुत से शिखर पार करने बाकी है।

'गुरुदेवश्री' कहते हैं न ! पात्रता के लिये, सम्यक्दर्शन की योग्यता के लिये तो बहुत से शिखर पार करने अभी बाकी हैं। जिसमें से यह एक शिखर है - लोकसंज्ञा। जो लोकसंज्ञा में रहता है वह बहुत हलकी योग्यता में रहता है, वह समाज के वश पड़ा है। समाजमें से उसको आबरू-कीर्ति की चाहत है, मान की चाहत है, लौकिक मान उसे चाहिये। जबतक ऐसी हालत है तब तक आत्मलक्ष होने की कोई शक्यता नहीं है। सैद्धांतिक बात है।

अतः जिसको आत्मा को साधना है ऐसे 'साधक को एक शुद्ध आत्मा का ही सम्बन्ध होता है।' साधक को तो एक शुद्धात्मा का ही सम्बन्ध होता है। यानी कि मुझे मेरे समाज के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, मेरा सम्बन्ध केवल मेरे आत्मा के साथ है, मेरे आत्महित से मेरा सम्बन्ध है, समाज के साथ मेरा कोई वास्ता नहीं है। पूरी समाज सौ के सौ प्रतिशत विरुद्ध हो जाये तो घर बैठकर कमरा बंद करके आत्मा की साधना करेगा। लेकिन समाज विरुद्ध हो गया है इसलिये समाज के साथ हो जाओ वह बात नहीं बननेवाली है। जो सत् से विरुद्ध जाता हो, उन्मार्ग में चलता हो ऐसे समाज में ज्ञानी जुड़ते नहीं हैं, और तो और ज्ञानी के आश्रित भी ऐसे नहीं चलते। 'गुरुदेवश्री' तो बहुत स्पष्ट कहते थे कि, सत् को संख्या की कोई जरूरत नहीं है। सत् को सही अभिप्राय के साथ सम्बन्ध है, संख्या से कोई लेना-देना नहीं है।

मुमुक्षु :- सम्यक्दर्शन होने के पश्चात् समाज के कार्य छोड़ देने क्या ?

पूज्य भाईश्री :- समाज का काम ?

मुमुक्षु :- छोड़ देना क्या ?

पूज्य भाईश्री :- और इसके पहले ? चालू रखना, तो चालू रखेगा तबतक होगा नहीं। और होगा नहीं फिर छोड़ने का प्रश्न ही नहीं उठता। सीधा हो गया न हिसाब ? आज मंगल दिन है। 'श्रीमद् राजचंद्रजी'का जन्मदिन है। अतः २०-२५ मिनट गुणग्राम किये। आपको मन में याद किया था।

महान दिन हो तब जल्दी उठ जाना चाहिये। नित्यक्रममें से जल्दी से अवकाश प्राप्त करके आत्महित के कार्य में अग्रेसर हो जाना चाहिये, दूसरे समूह में भले ही अग्रेसर नहीं हो सके किन्तु आत्महित के कार्य में अग्रेसर हो जाना। आत्मार्थी को तो ऐसा विकल्प होता है। बात निकली है तो कह देता हूँ। सारे जगत का सामान्यतया सूर्योदय के आसपास उठने का समय होता है, निद्रा से जागृत होने का (समय है)। आत्मार्थी का विकल्प ऐसा होता है कि लोग सांसारिक कार्य शुरू करने के लिये उठे इसके पहले मैं थोड़ा अपना कार्य कर

लूँ। लोग जब शुरू करे, लोग तो देहार्थ हेतु, देह की प्रवृत्ति शुरू करनेवाले हैं, इसके पहले मैं आत्मार्थपूर्वक कुछ आत्मा के लिये प्रवृत्ति करके आत्मा का कर लूँ। दूसरे उठे इसके पहले ही कर लूँ। क्योंकि दूसरे के उठने के पश्चात् दखल होने का निमित्त खड़ा होता है, इसके पहले तो कोई वैसा निमित्त नहीं होता। यह एक सामान्य (बात है)। देरी से स्वाध्याय में आना (यह ठीक नहीं)।

अपना हित हो यही सुप्रभात है और कोई सुप्रभात है ही नहीं। सूर्य का उदय और अस्त हुआ, कितने कालमें ? अनन्त बार उदय व अस्त हुआ। वह कोई प्रभात है क्या ? मोह निद्रा टले, दर्शनमोह की निद्रा टले तब सुप्रभात होता है। भावनिद्रा को टालो। है न ? 'श्रीमद्जी'ने प्रथम वाक्य ही लिया है।

मुमुक्षु :- उन्होंने वैसे ही भाव में कहा है। सब मुमुक्षु इकट्ठे (होते होंगे) ?

पूज्य भाईश्री :- वैसे योग नहीं था। वैसे तो क्या है कि, गुजरात के गाँव में बसते थे तब तो इकट्ठे होते थे। हमलोग इस बार अगास के बगल में काविठा गये थे, काविठा गये थे। काविठा में 'श्रीमद्जी' जिस घर में रहते थे उस भाई के घर हमलोग गये थे। उनके यहाँ (बहुत लोग आते हैं)। 'श्रीमद्जी' के अनुयायी फिलहाल तो बहुत लोग हो गये हैं, अतः वहाँ कई लोग आते हैं। वे स्वयं निवृत्त हैं यह अच्छा है, सबको दिखाते हैं। यहाँ खाना खाने बैठते थे, यहाँ पर सोते थे। खाना-पीना उनके घर पर था जहाँ वे स्वयं अभी रहते हैं वहाँ उपर की मंजिल पर। कच्चा गारा था। अभी तो फर्श लगा दी है परन्तु पहले गारा था। उनके दादाजी के समय का मकान है। यहाँ चूला रखकर अंबालालभाई खाना पकाते थे। अंबालालभाई खाना बनाते थे। रसोईया की व्यवस्था नहीं बैठती थी। एक दफा व्यवस्था हुई होगी किन्तु बाद में नहीं हो पायी होगी। बहुत भक्तवान थे। स्वयं ने रसोई बनाना सिख लिया कि अब 'कृपालुदेव जब निवृत्ति लेकर आये इसके पहले मैं रसोई बनाना सिख लूँ। दुगना लाभ। सान्निध्य का भी लाभ और सेवा का भी लाभ।

एकबार स्टेशन पर उतरे कि बरतन का बोरा ले लिया था। उस जमाने में उतने साधन नहीं थे कि सब ठीक से जमाकर रखे। बोरे को डाला खंभे पर। (कृपालुदेव)ने कहा अंबालाल ये क्या है ? तो कहा, साहब ये बरतन का थैला है। क्यों ? तो कहा आपकी रसोई बनाने के लिये। रसोईया (कहाँ है) ? तो कहा, मैं ही अब रसोईया। सिख लिया है अब कोई आपत्ति नहीं है। स्वयं रसोई बनाते थे। अंबालालभाई रसोई बनाते थे। खंभात के मुमुक्षु थे। मकान दिखाया था वहाँ, उसने कहा मेरे चचेरे भाई का मकान है। वहाँ एक बड़ा हॉल था। उस बड़े हॉल में एक साथ डेढ़ सौ-दौसौ लोग बैठ सके ऐसी व्यवस्था थी। उनकी फॉटो रखा है आज भी। इसजगह फोटो तो खैर उधर रखा है किन्तु इसके पास में जगह थी उस जगह बैठते थे। लोग गाँव-गाँव से आते थे। जैसे ही पता चले कि आये हैं.. आये हैं... तो सब पहुँच जाते। उस बहाने इकट्ठे होते होंगे, ऐसे चलता होगा। वैसे सामूहिक वाचन (चलता होगा)

काविठामें पाट पर बैठते थे। जो लोग प्रवचन सुनने आते थे वे आसपास के गाँव से ही आते थे। वे सब नडियाद, उत्तरसंडा, काविठा, अगास है, वडवा भी पास में हैं वहाँ से तो। वडवा भी पासमें है दस-पंद्रह मिनट के अंतर पर। वडवा में तो क्या है कि, जब काविठा और उसके आसपास रहते थे तब कभी-कभी उस तरफ आ जाते। एकांत के लिये आते थे। खंभात से नजदीक पड़ता था। इसतरह सब सामूहिकरूप से हुआ था परन्तु उतना प्रसिद्ध नहीं है। वहाँ जाते हैं तो पता चलता है कि 'उपदेश छाया' व 'उपदेश नोंध' बड़े ग्रंथ में पीछे में जो 'उपदेश छाया' व 'उपदेश नोंध' है वह सब उसवक्त बोले थे और धारणानुसार लिखा गया है। वह धारणा में - धारणा करनेवाले का आशयफेर होने का संभव है ऐसा समझकर पढ़ना चाहिये। कोई-कोई बात में ऐसा लगता है कि, यह धारणा करनेवाले ने ठीक से बात नहीं पकड़ी होगी। बाकी तो सारी बातें मौखिक हुई थी जबकि पत्रों की बातें स्वयं के हस्ताक्षर में हैं।

मुमुक्षु :- ...

पूज्य भाईश्री :- भावलिंग में तो आयु बहुत लंबी

देवलोक की बंध जाती है। फिर तो द्रव्यलिंग हो तो भी देवलोक में जाता है। द्रव्यलिंगी का कषाय मंद होता है न ? इसलिये देवलोक में जाता है, देवलोक में जानेपर देवलोक में जाने पर कम से कम.. हलके देव में भी कमसे कम दस हजार वर्ष का (आयुष्य होता है)।

मुमुक्षु :- भट्टारक होते हैं न ? कपड़ेवाले साधक...

पूज्य भाईश्री :- भट्टारक न ? ईडर में भट्टारक थे। ईडर का तो पूर्वभव के साथ संबंध भी दर्शाया है। पाठशालामें से 'द्रव्यसंग्रह' मंगवाया। इसजगह 'द्रव्यसंग्रह' पड़ा है।

द्रव्यलिंगी को तो कषाय की मंदता बहुत होती है। देवलोक में ही जाते हैं। मुमुक्षु भी करीब-करीब निवृत्ति में रहे हो और कषाय की मंदता रहे तो यहाँ से देवलोक में जाते हैं। द्रव्यलिंगी को तो बहुत कषाय की मंदता है। उनका तो आचार ही पूरा मुनियोग्य पंचमहाव्रत, समिति, गुप्ति बहुत (मंद कषाय), अत्यंत मंद कषाय में थे।

मुमुक्षु :- उन्हें तो ख्याल होगा ही न ?

पूज्य भाईश्री :- बहुत स्पष्ट नहीं करते थे। बहुत स्पष्ट नहीं कहते थे। हो सकते हैं शायद कि द्रव्यलिंगी होते हैं। भट्टारक होते हैं। क्या हो सकते हैं अभी नक्की नहीं हो सका। प्रसिद्धरूप से कह सके कि, ऐसा ही था सो बात नहीं है। मनुष्यभव किस तरह आया है, बहुत अल्पकाल में वह सोच में डाल दे ऐसा विषय है।

मुमुक्षु :- आज काविठा में समकालिन है। वह भाई समकालिन थे ?

पूज्य भाईश्री :- ना, वे उनके पिताश्री थे। भाई की उम्र थी करीब ६५-७० साल की जिनका घर था। लड़के लोग सब मुंबई में व्यवसाय करते हैं, व्यवसाय है बड़ा मुंबई में... उनके पिताश्री का नाम आता है। नाम तो मैं भूल गया हूँ। उनके पिताश्री थे। दो भाई थे। एक के घर स्वाध्याय चलता था और दूसरे के वहाँ खाना बनता था। उनके पिताश्री के जमाने की सब बातें सुनी होगी इसलिये काफ़ी बातें करते थे। कोई भी आये तो उन्हें बहुत प्रेम से सब दिखाते थे।

मुमुक्षु :- 'श्रीमदजी' के प्रति भक्ति बहुत होगी न ?

पूज्य भाईश्री :- हाँ, बहुत भक्ति। करीब काविठा

पत्र लिखा होगा न ? 'झवेरचंदभाई' व 'रतनचंदभाई'। एक भाई का नाम 'झवेरभाई' था, दूसरे का 'रतनचंद' था।

मुमुक्षु :- हमलोग गये तब झवेरचंदभाई थे।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, अभी वह 'झवेरचंदभाई' के लड़के थे। 'रतनचंदभाई' के पुत्र भी मिले थे। कैसे थे लेकिन ! न कोई जान-पिछान, कभी मिले न हो तो भी इतना प्रेमभाव बात ही छोड़ो। हिलने न दे आपको। दो भाई थे। 'झवेरचंदभाई' का मकान व 'रतनचंदभाई' का मकान।

प्रश्न :- अट्टाईश मुलगुण द्रव्यलिंगी हो और चारित्र में चुस्त हो वे लोग आ सकते हैं न ? मिथ्यात्व...

समाधान :- मिथ्यात्व होता है, चारित्र बाह्याचरण मंदकषाययुक्त दोषयुक्त होता है। दोषयुक्त होता है। इसमें गड़बड़ी नहीं करे। इसमें गड़बड़ी करे वह तो द्रव्यलिंगी भी नहीं है। जैसे कि अभी जो नग्न दिग्म्बर मुनि हैं कोई द्रव्यलिंगी भी नहीं हैं। क्योंकि आचार शुद्ध नहीं है। जो शास्त्रोक्त जिनोक्त व्यवहार होता है वह व्यवहार शुद्ध नहीं है। जैसे कि उदेशिक आहार के रूपमें चौके बनाते हैं। चौका मतलब रसोईघर। हिन्दी में चौका कहते हैं। उनके लिये चौका बनाते हैं। जबकि (द्रव्यलिंगी) भी एक आहार का कण नहीं लेगा, पानी की एक बूँद नहीं लेगा। उदेशिक (आहार) मुनि नहीं लेते। प्राण जाये तो भी नहीं लेंगे। द्रव्यलिंगी होंगे तो भी नहीं लेंगे। द्रव्यलिंगी की इतनी मर्यादा है। अतः ये वर्तमान मुनि तो द्रव्यलिंगी भी नहीं कह सकते। फिर इसके नीचे तो सब भेषधारी हो गये।

मुमुक्षु :- फिर तो गलती का दंड भूगतेंगे ही न ?

पूज्य भाईश्री :- हाँ सो तो है ही। कुदरत का विषय तो कुदरत के पर ही है। कर्म धोखा नहीं खाते, आदमी धोखा खा जाता है। कर्म धोखा नहीं खाते।

मुमुक्षु :- आपने कहा न द्रव्यलिंगी देवलोक में जाता है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, कषाय बहुत मंद होता है। द्रव्यलिंगी हो, भले ही मिथ्यादर्शन हो परन्तु कषाय अति मंद होता है तो ही,.. अट्टाईश मूलगुण व पंचमहाव्रत निरतिचार का चुस्त पालन कर सकते हैं ? इतनी हद

तक कषाय मंद हो वही पालन कर सकता है। दूसरे की ताकत नहीं है कि पालन कर सके। बहुत कषाय (मंद होता है), प्रकृतिगतरूप से ही बहुत मंद कषायी जीव होता है, अत्यंत मंदकषायी जीव का ही काम है। राग तीव्र कषाययुक्त हो, तो अट्टाईस मूलगुण व समिति-गुप्ति का पालन आसान नहीं है। जंगल में रहना, ठण्ड-धूप-बारिश (का प्रकोप हो), कहाँ-से टिक पायेगा ? ज्ञान तो है नहीं, वरना तो ज्ञान के बल पर टिक जाये। आत्मा का आधार हो तो टिके। आत्मा का आधार अभी लिया नहीं, टिकेगा कहाँ से ? कषाय अति मंद होगा तो ही टिक पायेगा, वरना नहीं टिक सकेगा सीधी बात है।

मुमुक्षु :- द्रव्यलिंगी हो, अट्टाईस मूलगुण पालन करता हो, वह देवलोक में जाता है।

पूज्य भाईश्री :- वह देवलोक में ही जायेगा। इसमें तो प्रश्न नहीं है। नौवीं ग्रैवेयक तक जाता है वह तो। उच्च से उच्चतम देवलोक में जाता है। सोलह स्वर्ग पार करके फिर नौ ग्रैवेयक हैं। नौवीं ग्रैवेयक जाता है। मिथ्यादृष्टि का आखिर में जाने की मर्यादा यदि बहुत मंदकषाय हो तो वहाँ तक है। इससे आगे नहीं जा सकता। बाद में सर्वार्थसिद्धि देवलोक आता है वहाँ केवल सम्यक् दृष्टि जाते हैं।

२१३ बोल में 'साधक को एक शुद्ध आत्मा का ही सम्बन्ध होता है।' यानी कि उन्हें अपने शुद्धात्मा के साथ सीधा अनुसंधान रखना होता है। वह शुद्धात्मा ही नजर में रखता है, उसपर ही दृष्टि है, उसीकी मुख्यता है, इसके आगे सब गौण हैं। अपने शुद्धात्मा के आगे, अपने परमात्मा के आगे सब गौण हैं। किसी की मुख्यता नहीं होती। सारे जगत की मुख्यता नहीं है। 'जगत इष्ट नहीं आत्मथी मध्यपात्र महाभाग्य' यहाँ तक तो अभी मध्यपात्र लिया है। 'मध्यपात्र महाभाग्य' इतना कर ले तो वह महान भाग्यशाली है। मध्यपात्र है। उत्कृष्ट पात्र होकर प्राप्ति कर लेगा।

'निर्भयरूप से...' लोगोंका भय रखे बिना, 'निर्भयरूप से उग्र पुरुषार्थ करना,...' पुरुषार्थ का बोल है। 'निर्भयरूप से उग्र पुरुषार्थ करना,...' पुरुषार्थ की प्रेरणा दी है। 'बस ! वही लोकाग्र में जानेवाला साधक

विचारता है।' अपने पुरुषार्थ के साथ जिनका सम्बन्ध है। पुरुषार्थ की भावना, भावना पुरुषार्थसहित है और इसमें पुरुषार्थ जितना उग्र इतनी ही सिद्धि की समीपता, इतना ही निर्वाण नजदीक। जितना पुरुषार्थ उतना ही आत्महित। बस ! जितना ज्ञान का उघाड उतना आत्महित ऐसा नहीं कहा बल्कि जितना पुरुषार्थ उतना आत्महित। मोक्षमार्ग में तो पुरुषार्थ की ही मुख्यता है।

'टोडरमल्लजी' ने जहाँ मोक्षमार्ग का अधिकार - नौवाँ अधिकार शुरू किया है (वहाँ) प्रथम बात यह ली है - मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ की मुख्यता है। जितना पुरुषार्थ जीव का होगा उतना ही आगे बढ़ेगा, इतने गुण विकसित होंगे, इतना सुख-शांति का आनंद रहेगा, उतना वह मोक्ष के समीप गया। अतः 'बस ! वही लोकाग्र में जानेवाला साधक विचारता है।' वह कोई लोगों के सामने देखने नहीं रुकता। लोगों की कीमत शुरू से ही अभिप्राय में मिटा दी है कि इसकी तो कोई कीमत ही नहीं है। लोगों की कोई कीमत नहीं है। बस ! वहीं से वह आगे चलता है। जबकि, जिसको लोकसंज्ञा है उसे उसीकी मुख्यता रहा करती है। परन्तु लोगों का क्या ? परन्तु समाज का क्या ? परन्तु लोगों का क्या और समाज का क्या ? लेकिन भाई ! लोगों को व समाज को देखने में तू खो गया। स्वयं ही खत्म हो गया।

मुमुक्षु :- पानी में रहना और मगर के साथ बैर कैसे रखना ?

पूज्य भाईश्री :- पानी में रहना और मगर के साथ बैर। बैर तो किसी के साथ नहीं रखने की बात है इसमें। निर्बैर मार्ग है यह। बैर का प्रश्न ही नहीं है।

मुमुक्षु :- लोकसंज्ञा मिटानी हो तो ? समाज में रहना...

पूज्य भाईश्री :- लोगों के बीच रहना नहीं है। अभिप्राय क्या है ? कि इन लोगों के बीच मुझे रहना नहीं है। रहने का प्रश्न नहीं। लोगों के बीच रहना नहीं है। लोकाग्रे जाना है। लोगों को छोड़कर लोकाग्र जाना है। - यह मेरा मार्ग है, यह मेरा ध्येय है, यह मेरा अभिप्राय है। परन्तु जबतक पूर्वकर्म का उदय है तब तक लोगों के बीच में रहना पड़ेगा। जिन लोगों के बीच

रहना पड़ता है उन लोगों को गौण कर देना पड़ता है। तब लोगों का संग छूटेगा, वरना लोकसंग नहीं छुटेगा। अथवा लोगसंज्ञा के जहर को तो मुमुक्षु, साधक अच्छी तरह पहचानता है कि, यह जहर तो मुझे खाने जैसा नहीं है।

लोकसंज्ञा का जहर कैसा है ? कि लोगों में अमुक स्थान प्राप्त करना, स्थान मिला हो उसे बनाये रखना या इससे अधिक ऊँचे स्थान की प्राप्ति करना यानी की उसकी सारी प्रवृत्ति के पीछे वही लक्ष्य रहा करता है फिर। वह जीव देव-गुरु-शास्त्र की प्रवृत्ति करे तो भी सब के पीछे लक्ष्य तो यही रहेगा कि, लोगों के बीच मेरा स्थान बढ़ रहा है कि नहीं ? ऐसा उसका लक्ष्य होता है। शास्त्र वांचन करे, बहुत अच्छा प्रवचन करे, ठीक। Oratory अच्छी हो। अच्छाखासा शास्त्र वांचन कर ले। शास्त्र प्रवचन करता है किन्तु किस अभिप्राय से करता है ? इसपर इसका मूल्यांकन होता है। कैसा करता है इस पर इसका मूल्यांकन नहीं होता, परन्तु किस अभिप्रायपूर्वक करता है उसपर उसकी कीमत है। अगर लोकसंज्ञा होगी तो इसमें तो बहुत नुकसान कर लेगा। सुननेवाले से ज्यादा नुकसान सुनानेवाला कर लेगा। क्योंकि वह ज्यादा जहर पी लेता है। रस चढ़ जाता है। पुण्य का उदय होगा तो लोग मान देंगे, स्थान देंगे। वह तो पुण्य के उदय का कारण है, वह कोई पात्रता का कारण नहीं है।

मुमुक्षु :- संसार तो झूठ का आग्रह, असत्य का आग्रह करनेवाला है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, संयोगों की तो रचना ही ऐसी है संसार की। इससे यह हुआ और इससे यह हुआ। जबकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता। कुछएक निमित्त-नैमित्तिक संबंध ऐसे संबंध अपेक्षित धर्म हैं। वे तो अपेक्षित धर्म हैं, वह कोई त्रिकाली गुण नहीं है। अतः लोक की रचना ऐसी है कि इससे इसका कार्य हुआ ऐसा ही जीव को लगता है। एक पदार्थ की शक्ति दूसरे पदार्थ का कार्य करती है। जो असत्य व झूठ का आग्रह करा दे ऐसी लोकरचना है। यह श्रीमदजी ने स्पष्ट लिया है। लोक रचना तो ऐसी है कि असत्य का आग्रह हो जाये। उसे समझते हैं उसको

आग्रह नहीं होता। किसी से किसी दूसरे का होने का प्रश्न नहीं है। जो जिस काल में होना रहेगा वही होगा इसमें किसी का किया कुछ नहीं होता। वस्तु का स्वरूप तो, वस्तु का ज्ञान तो, वस्तु के स्वरूपानुसार ज्ञान तो वीतरागतामें ही परिणमन कर ले ऐसा सीधा विषय है।

प्रश्न :- पुरुषार्थ और रुचि से...

पूज्य भाईश्री :- रुचि अनुयायी है। जैसी रुचि है वैसा पुरुषार्थ। परन्तु वह तो ऐसा है कि शुरुआतवाले को रुचि का बोल लागू पड़ता है। जिसको पुरुषार्थ प्रगट हुआ है उसे तो पुरुषार्थ में ही आगे बढ़ना है। उसे कोई रुचि का प्रश्न नहीं है। वह सीढ़ी वह चढ़ चूका है। मुमुक्षुजीव को अनादि से जिसको बाह्य रुचि, अनात्मा रुचि, राग की रुचि पड़ी है; उसे यहाँ कहते हैं कि, जब तेरी रुचि उलटी होगी, तबतक तेरा पुरुषार्थ सुलटा नहीं चलेगा, परन्तु रुचि के अनुसार उलटी रुचि में उलटा ही चलेगा। दिशा बदलने के लिये इस बात का स्पष्टीकरण आता है।

मुमुक्षु :- उग्र पुरुषार्थ...

पूज्य भाईश्री :- निर्भयता से उग्र पुरुषार्थ करना यानी कि जोर से। उग्र माने विशेष बलवान पुरुषार्थ (करना)। पुरुषार्थ के परिणमन में बल होना चाहिये। बल नाम वहाँ उग्रता, तारतम्यता की अपेक्षा उसमें अनेक भेद हैं। मुमुक्षु में सम्यक् सन्मुख हो तभी से सहज पुरुषार्थ शुरू होता है। यही पुरुषार्थ आगे बढ़कर एक स्तर पर सम्यक्दर्शन प्राप्त होता है और अभेद स्वानुभूति अनुभव प्रगट होता है। शुद्धोपयोग होवे इतनी हद का पुरुषार्थ होता है। तत्पश्चात् चतुर्थ गुणस्थान में पुरुषार्थ वृद्धिगत होकर पाँचवें गुणस्थान तक आता है। पाँचवें गुणस्थान से आगे बढ़कर मुनिदशा के पुरुषार्थ में आता है। मुनिदशा में आगे बढ़कर श्रेणी लगाने के पुरुषार्थ में (आता है)। कहा जाता है सबको पुरुषार्थ ही किन्तु इसके असंख्य भेद हैं। एक ही गुणस्थान के असंख्य भेद हैं। गुणस्थान तो चौदह तक के हैं, परन्तु एक-एक गुणस्थान में असंख्य भेद हैं। इसतरह पुरुषार्थ का विषय पूरा अलग ही है। अतः साधक जीव तो अपने पुरुषार्थ को सँभालता है। जगत और समाज को ठीक करने में वह अपना पुरुषार्थ खो नहीं देता। ऐसा कहना है। २१३ पूरा हुआ।

कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी के प्रति पूज्य भाईश्री शशीभाई के हृदयोद्गार

कृपालुदेवके जीवनमेंसे एक बहुत बड़ी बात समझनेकी या सीखनेकी मिलती है, वह यह बात है कि, उन्हें आगममेंसे पता लगा कि इस कालमें मोक्ष नहीं होता तो भी उनका पुरुषार्थ इस बातका स्वीकार नहीं करता! क्षण भर तो उनका पुरुषार्थ स्वीकार नहीं करता कि मोक्ष क्यों नहीं होगा ? मोक्ष तो यदि स्वरूपमें एक अंत-मूर्त अर्थात् दो घड़ी तक स्थिर हो जाय तो अवश्य होवे ही। यह परिस्थिति है, तो कृपालुदेवने देखा कि, मैं स्वरूपमें तो स्थिर हो सकता हूँ, मैं स्वरूपमें अच्छी तरह स्थिर रहता हूँ। अरे...! स्थिर रहता हूँ ऐसा नहीं, २४वें सालमें २५५ पत्रमें ऐसा कहते हैं कि, देह है या नहीं यह बड़ी मुश्किलसे याद करूँ तब मुझे याद आता है कि अभी पड़ौसमें देह है। उसके सामने देखे तब पता लगता है। भूल जाते हैं पड़ौसीको। ऐसी मस्त जिनकी अध्यात्म दशा है, वे ऐसा कहते हैं कि, तो फिर मैं क्यों स्थिर न रह सकूँ ? स्थिर हो तो जाता हूँ, स्थिर होना आता है, इस प्रकार स्वरूपस्थ होनेकी कला मुझे आ गई है तो मैं क्यों स्थिर न रहूँ ? इस प्रकार पुरुषार्थ उठाया। उनका जीवन, उनका परिणामन उनके पुरुषार्थका बल उनके वचनोंमेंसे बाहर आता है। (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-२५४, राजकोट (७) २५.०० मिनट)



जितना वे मोक्षमार्गमें आनेवालेको आदर देते हैं, एक तरफसे जितना वे वात्सल्य रखते हैं, उतना ही सामनेवाले जीवको (सत्) मार्ग पर चढ़ानेके लिये उसके दोषको भी स्पष्ट कह देते हैं। उसमें भी वे हितबुद्धिपूर्वक बात गोल-गोल नहीं रखते। आनेके लिये आदर देते हैं, उसे वृद्धिगत होनेके लिये आदर देते हैं दूसरी तरफसे उसके दोषकी बात आती है तो स्पष्ट कह देते हैं। उसमें बचाव नहीं करते, ऐसी जो उनकी विचक्षणता है वह एक असाधारण और लोकोत्तर विचक्षणता है और ज्यों-ज्यों उनके पत्र पढ़ते हैं त्यों-त्यों उस विषयकी सूक्ष्मता और विशेषता नजर आती है, उसका अभ्यास होता है। उस बातको अपने लिये एक उपदेशात्मक प्रसंग गिनकर अंगीकार कैसे करना यह भी उसमेंसे लक्ष्य करने लायक विषय है।

(श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-२७३ से २७७ Sr. No. ८५, ८.०० मिनट, दि.१-११-१९८९)



चलते हुए (विभिन्न) मतोंके प्रकारकी बात कानमें पड़ती है तब हृदयमें मृत्युसे भी अधिक वेदना होती है। जैनोंके विद्यमान मत, संप्रदायोंकी बातें सुनते हैं कि इस संप्रदायमें ऐसा चल रहा है, इस संप्रदायमें ऐसा चल रहा है, तब हृदयमें मृत्युसे भी अधिक वेदना होती है कि, अरे...रे...! जैनके नामसे ये सब!! जैन परमेश्वरके नामसे ऐसी गड़ीबड़ी! अर्थात् अन्य मतकी माफिक लोग प्रवर्तते हुए दिखते हैं तब हमें मृत्युसे भी अधिक वेदना होती है कि, अरे...रे...! सन्मार्गके नामसे उन्मार्ग! सन्मार्गके नामसे लोग धोखा खाकर इस प्रकार अनुसरण कर रहे हैं। स्वयंको वेदना उठती है, जैसे मृत्युसे भी अधिक वेदना होती है। देखो! मार्गके प्रति कितना ज्यादा अनुराग है कि लोगोंके समूहको उन्मार्गकी ओर रुझानवाला देखकर मृत्युके समान वेदना होती है, मृत्यु जितनी नहीं, मृत्युसे अधिक वेदना होती है। यह बहुत नैसर्गिकरूपसे उत्पन्न हुई परिणामकी स्थिति है।

(श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-२७३ से २७७ Sr. No. ८५, ५५.०० मिनट, दि.१-११-१९८९)



लिखावटमें ऐसे समर्थ पुरुष हैं कि उनकी जो कलम चलती है वह इतनी ज्यादा असाधारण

है फिर भी ऐसा लिख रहे हैं कि, मैं पत्रमें लिख न पाऊँ ऐसा विषय है। मैं समागममें चर्चा करूँगा। तत्त्वका कितना सूक्ष्म विषय होगा कि स्वयं कलम चलानेमें इतने समर्थ हैं, फिर भी कलम रुक जाती है, चलते-चलते रुक जाती है कि, इस विषयमें अनेक नय काम करते हैं। अनेक नयों द्वारा इस विषयको संतुलित रूपसे प्रदर्शित करना चाहिए। लेखमें लिखनेकी कोशिशमें किसी एक जगह वजन देनेके बजाय सामनेवालेका वजन दूसरी जगह चला जायेगा तो अर्थका अनर्थ कर देगा, नुकसान कर बैठेगा (अपना) इसलिये लिखना छोड़ देते हैं।

(श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-१३२, Sr. No. ३३, १०.०० मिनट, दि.३०-८-१९८९)



सत्पुरुष तो उनके हृदयमें कितने भीतर घुस गये हैं, यह कहना मुश्किल हो जाय ऐसा है। बहुत अनूठी शैली की है। इस विषयमें उन्होंने जो शैली की है वह गजब है!

(श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-२१, Sr. No. १६, ५५.०० मिनट, दि.१८-७-१९८९)



स्वयं तो जैसे इस देहसे, इसी भव में मुक्ति लेनेके जोशमें है। यह उनके पुरुषार्थकी विशिष्टता है। बहुत पुरुषार्थ है, तीव्र पुरुषार्थ है। अतिपुरुषार्थवंत जिनको कहा जाय ऐसे धर्मात्मा हैं।

स्वयंने ज्ञानदशामें बहुत जोरसे प्रवेश किया है। एकावतारी पुरुष हैं, इसलिये उनकी पुरुषार्थकी श्रेणि कोई अलग ही प्रकारकी है। यदि आयु (लंबी) हो, तो ऐसे जीव असंगदशामें आ जाय ऐसी स्पष्ट बात है। उनके लिये यदि सोचे तो ऐसी कोई स्पष्ट बात है कि यदि पचास-पचहत्तर वर्षकी आयु हो तो ऐसे धर्मात्मा, महात्मा निर्ग्रंथ दशामें सर्वसंग-परित्याग करके असंग दशामें जंगलमें चले जाय ऐसी उनकी दशा है।

(श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-३०४ से ३०६ Sr. No. ८३, ४०.०० मिनट, दि.१२-११-१९८९)



वे बारंबार अपनी दशा लिखते हैं, अंतरंग दशा लिखते हैं। वह भी एक मुमुक्षुके लिये बहुत उपकारी विषय इस ग्रंथमें आ गया है। कैसी-कैसी परिस्थितिमें अंदर में परिणमन किया है, आत्मा में परिणमन किया है। बाहरमें ऐसी परिस्थिति होनेके बावजूद अंदर किस प्रकार वर्तते रहे हैं, वह उनकी जो परिणामकी चाल है वह बहुत अभ्यास करने लायक विषय है। अपनी दशाके लिये बहुत स्पष्ट लिखते हैं और वह बहुत अभ्यास करने लायक कोई विषय इस ग्रंथमें खास करके है, तत्त्वदृष्टिसे अभ्यास करने लायक है, तो यही विषय है। ज्ञानीकी अंतरंग दशासे सामान्यरूपसे अज्ञानी जीव अपरिचित है। उसको परिचय हो सके ऐसा यह विषय चल रहा है। उनका परिचय मिल जाय ऐसा यह विषय है।

(श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-३७३ Sr. No. १०८, ४०.०० मिनट, दि.१६-१२-१९८९)



उनका जो स्वरूप प्रत्ययी पुरुषार्थ और अंतरंग ज्ञानदशा है वह बहुत अद्भुत है! उसका बहुत सूक्ष्मतासे स्वाध्याय करने पर तत्त्वदृष्टि प्राप्त हो जाय ऐसा विषय है। भले ही वह पर्यायका विषय है, फिर भी जिस पर्यायमें स्वभाव प्रगट होता है अथवा जो पर्याय व्यक्त स्वभावाकारसे प्रगट होती है वह पर्याय भी स्वभावदृष्टिका निमित्त बनती है। दूसरेको स्वभावदृष्टि होनेमें वह निमित्त बनती है। इस दृष्टिसे उनका जो अंतरंग जीवन है वह अवलोकन करने योग्य है।

(श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-४३८ Sr. No. १४८, ३२.०० मिनट, दि.१६-४-१९९०)

द्रव्यदृष्टि प्रकाश पत्रांक-३३ पर पूज्य भाईश्री शशीभाई का प्रवचन, दि.९-८-१९९१

(पत्रमें) ऐसा प्रश्न उठाया है कि, साधकदशामें धर्मीजीवका उपयोग बाहर जाता है तब देव-गुरु-शास्त्र मुख्यरूपसे उनके उपयोगका विषय रहते हैं। उन वीतरागी निमित्तोंमें निमित्तत्व इसलिए लागू होता है कि, यहाँ (भीतरमें) भी वीतरागता वृद्धिगत् करते हैं।

जैसे दृष्टांत ले कि, अमृतचंद्राचार्यदेवने ऐसा कहा कि, इस समयसार शास्त्रकी टीका करते हुए मेरी परिणतिमें विशुद्धि हो ! (अब) शास्त्रकी टीका करेंगे वह तो विकल्पसे करेंगे और विकल्प तो रागात्मक है तो क्या रागसे कोई विशुद्धि होगी ? लेकिन वहाँ क्या है कि, सिर्फ अकेला राग नहीं होता। वास्तवमें तो उनकी परिणतिका विषय शुद्धात्मा है और बाहरमें वीतरागी निमित्तोंके बहाने भी वे अपने इष्ट ऐसे स्वरूपको विशेषतः दृढ़ करते हैं। इस प्रश्नके पीछे आशय इतना है। जवाब उन्होंने बहुत सूक्ष्मतासे दिया है। यह स्थूल न्याय है। इस प्रकार साधकजीवको देव-गुरु-शास्त्रके निमित्तसे भी आत्मविशुद्धि बढ़ती जाती है, ऐसा जो कहा जाता है वह स्थूल न्याय है। सूक्ष्मरूपसे दूसरी बात है, उसे उतनी हद तक सूक्ष्मतासे समझना चाहिए - यह उनके उत्तरका विषय है।

मुमुक्षु :- आपका प्रश्न व्यवहारसे है जब कि उन्होंने उत्तर दिया है उपादानसे !

पूज्य भाईश्री :- उत्तर बहुत सूक्ष्मतासे दिया है। बहुत सूक्ष्मतासे दिया है। सामान्यतया धर्मीको भी चौथे, पाँचवे और छठे गुणस्थानमें अनिवार्यरूपसे उपयोग बाहर जाता ही है। इसका कोई निवारण नहीं है। वह गुणस्थानकी अनिवार्य परिस्थिति है। और जब साधक अनिवार्यरूपसे उस परिस्थितिमें खड़े हैं तब उन्हें खयाल है; तो उनको ऐसा विवेक रहता है कि, देव-गुरु-शास्त्रमें उपयोगको बुद्धिपूर्वक भी लगाते हैं। इसमें बुद्धिपूर्वककी बात ली है। धर्मीजीव बुद्धिपूर्वक देवादिकके प्रति परिणाम लगाता

है तो वहाँ भी उनका आशय तो स्वरूपको दृढ़ करनेका ही होता है। उस विषयमें स्पष्टीकरण दीजिये - यह प्रश्न है। और उन्होंने बहुत सूक्ष्मतासे पहला उत्तर दिया है।



उपयोग जितना बाहर गया और देवादिकके प्रति जो भक्ति आयी उसमें राग तो है परंतु ज्ञान भी उसके सन्मुख होता है - उपयोग भी उसके सन्मुख होता है। देव-गुरु-शास्त्रके सन्मुख उपयोग होता है। तो वह परिणाम अंश कितना है ? राग भी अधूरा है इसलिए आंशिक कहा। और उपयोग - ज्ञानकी पर्याय भी आंशिक है क्योंकि लब्धकी पर्याय तो आत्माके साथ जुड़ी हुई है। उसी पर्यायका एक अंश आत्माके साथ है। अब उतना जो अंश है कि जिसका संबंध परद्रव्यके साथ है, उससे तो स्वरूपको लाभ हो या स्वरूपकी दृढ़ता हो, यह बात मान्य करने जैसी नहीं है। उससे लाभ नहीं हुआ यह बात स्पष्ट है। बहुत तात्त्विक बात ली है। तत्त्वदृष्टिसे वह आस्त्रवतत्त्वमें जाता है। संवरतत्त्वमें नहीं जाता। अगर तत्त्वदृष्टिसे विचार किया जाये तो आस्त्रवतत्त्वमें जाता है। वह बंधका कारण है उसमें जाता है। आस्त्रव तो बंधका कारण है, बंधहेतु है। यह बहुत तात्त्विकदृष्टिसे उत्तर दिया है। क्योंकि बुद्धिपूर्वककी बात चली न ! अतः दूसरेकी वह बात है।

‘मनआश्रित (विचारपूर्वक) मान्यतासे यथार्थ अखण्डआश्रित सहज आंशिकवृत्तिका सद्भाव (उद्भव) नहीं हो सकता।’ विचारपूर्वक (अर्थात्) बुद्धिपूर्वक। अब यह उत्तर है वह ज्ञानीके लिए नहीं है। विषयको स्पष्ट करनेके लिए उन्होंने कुछएक उत्तर ज्ञानीके लिए लिये हैं (और) कुछएक बातें उन्होंने अज्ञानीके लिए की हैं। **‘मनआश्रित (विचारपूर्वक) मान्यतासे...’** यानी कि हमलोग ऐसा कहते हैं न कि, नौ तत्त्वको

मैं मानता हूँ, मैं जैन देव-गुरु-शास्त्रको मानता हूँ। मैं जिनोक्त छः द्रव्यको मानता हूँ। मैं आत्माको - मेरे स्वरूपको ज्ञायक मानता हूँ, मैं दो पदार्थकी भिन्नताको भी मानता हूँ। ऐसी जो मनआश्रित विचारपूर्वककी जो मान्यता है, सिर्फ अभी तो विचारसे जो मान्य किया है - उस मान्यतासे 'यथार्थ अखण्डआश्रित सहज आंशिकवृत्तिका सद्भाव (उद्भव) नहीं हो सकता।' सद्भाव अर्थात् यहाँ उद्भव होना, उत्पन्न होना। इस मान्यतासे अखण्डआश्रित सहज आंशिकवृत्तिका उत्पन्न होनेका कारण नहीं बनता। क्योंकि ऐसी मान्यता तो काफी लोग करते हैं। शास्त्र पढ़कर अभी जीव भी (ऐसी मान्यता) करता है। अभी जीव ग्यारह अंग पढ़ता है परंतु उसको भी अपने अखण्ड स्वरूपके आश्रयसे जो आंशिक शुद्धवृत्तिका सद्भाव होना चाहिए वह उत्पन्न नहीं होता। ऐसे विचारकी मान्यतामें कोई दम नहीं। यह एक बात ऐसी है कि मुमुक्षुको बहुत प्रयोजनभूत है। काफी लोग ऐसा मान लेते हैं कि, हमने तो यह माना, हम तो ऐसा मानते हैं, हम कहाँ कुछ और मानते हैं ? ऐसे विचारपूर्वक मनआश्रित माना है, उसीको वह मान्यता गिनता है। - श्रद्धा गिनता है। और (ऐसा मानता है कि) पुरुषार्थ अभी हमारा थोड़ा कच्चा है, हमारे पुरुषार्थकी कमजोरी है (अतः इसका मतलब कि) हमारी मान्यता (तो) सच्ची है, लेकिन हमारे पुरुषार्थकी कमजोरी है इसलिए अनुभव नहीं होता है। परंतु वह बात झूठी है। ऐसी मान्यतासे वास्तवमें यदि शुद्धवृत्ति उत्पन्न होती या अनुभव होता तो उसे कारण-कार्य लागू नहीं होता, और अगर लागू होता तो अभीको भी (अनुभव) हो जाता। क्योंकि ग्यारह अंगका पाठी तो वह भी है। ऐसा कारण-कार्य (लागू) नहीं होता। ऐसी मान्यतामें यदि कोई आ जाये कि, देव-गुरु-शास्त्रकी बुद्धिपूर्वककी प्रवृत्ति है तो मान्यताकी अपेक्षासे यह एक विचारणीय प्रश्न हो जाता है।

सच्चे देव-गुरु-शास्त्रको नहीं मानता हो या विरोध करता हो तो उसकी तो चर्चा करनेकी भी जरूरत नहीं है। परंतु मानता हो इसलिए उसे

अनुभव हो जायेगा, इस बातमें कोई दम नहीं है। बात कोई दूसरी है - अनुभव होनेके लिए बात कोई दूसरी है। ऐसा कहना है।

मुमुक्षु :- क्या इसके गर्भमें साधनकी भूल है ?

पूज्य भाईश्री :- हाँ, इसमें मान्यताकी भूल है, विधिकी भूल है। साधनकी भूल कहो या विधिकी भूल कहो (दोनों एकार्थ हैं।)

मुमुक्षु :- वह मान्यताको जानकारीकी कक्षामें रखता है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, उसको (जो) जानपना हुआ है उसे वह सच्ची मान्यता मानता है। उसकी मान्यता जो वास्तवमें अंदरसे बदलनी चाहिए, श्रद्धा जो बदलनी चाहिए वह तो अभी बदली नहीं। अथवा जिसकी यथार्थ समझ होती है उसको दूसरा खयाल होता है। इसी जगह इस स्थितिमें यथार्थतामें क्या खयालमें होता है ? कि यहाँ अभी दर्शनमोह मंद हुआ है, अभाव नहीं हुआ। मंद होना एक बात है और अभाव होना वह दूसरी बात है। मंदतामें सद्भाव है। अस्ति-नास्ति जितना, पूर्व-पश्चिम जितना, अंधेरा-उजाला जितना फर्क है। (मिथ्यात्व) मंद तो अनंत बार हुआ है परंतु नाश होवे जब तो जन्म-मरणका अंत होगा। अनंतताकी श्रृंखला टूट जायेगी। सद्भाव हो तब तक अभी मिथ्यात्वके गर्भमें अनंत जन्म-मरण पड़े हैं। वह अभी जिंदा है, वह बीज अभी जिंदा है, बीज अभी जला नहीं तो चाहे कभी भी पनपने लगेगा, इसका (कोई) भरोसा है क्या ? दर्शनमोहका अभाव हो जब तो वह बीज जल जाता है। यह दूसरी बातका (स्पष्टीकरण) हुआ। अब तीसरा (मुद्दा) लेते हैं।

'त्रिकाली अस्तित्वमयी स्व,...' अर्थात् अपना शुद्ध आत्मस्वरूप। जो यूँ का यूँ त्रिकाल शुद्ध अस्तित्वरूप रहता है। 'त्रिकाली अस्तित्वमयी स्व, इस आश्रित परिणामी हुई आंशिक शुद्धवृत्ति...' (अब) ज्ञानीकी बात चलती है। वह स्वरूपाश्रित परिणामन कर रहा शुद्धिका अंश (यानी कि) साधकदशाका अंश। (अब) तीसरा, इसी साधकको 'देवादिक

प्रत्येकी आंशिक बाह्य वृत्ति... उसी साधकको देव-गुरु-शास्त्र प्रत्ययी जो उपयोग व राग चलता है वह। एक जीवमें तीन बात ली। (१) शुद्ध स्वरूप (२) उस शुद्धस्वरूप आश्रित आंशिक परिणमन और (३) शुद्ध स्वरूपसे दूसरी दिशामें जाता हुआ परिणमनका अंश। दो अंश परिणामके लिए।

'तीनों अंशोका...' एक पदार्थ है इसलिए उसके तीन अंश हो गये। पदार्थ एक होनेसे इसके तीन अंश हो गये। **'तीनों अंशोका एक ही समय धर्मीको अनुभव होता है...'** धर्मीको तो तीनोंका ज्ञान है - तीनोंका अनुभव है। **'जिसमें मुख्य-गौणका प्रश्न नहीं।'** यह प्रमाण(ज्ञान)का विषय लिया। प्रमाणमें मुख्य-गौण नहीं है। नयसे मुख्य - गौण होता है। निश्चयनय मुख्य हो तब व्यवहारनय गौण होता है (और) व्यवहारनय मुख्य हो तब निश्चयनय गौण होता है लेकिन प्रमाणमें कोई मुख्य-गौण नहीं है। तो यह बात प्रमाणसे ली।

मुमुक्षु :- अनुभवका अर्थ वहाँ जानपना लेना ?

पूज्य भाईश्री :- हाँ, एकसाथ तीनोंका ज्ञान वर्तता है। अपने शुद्धात्माका भी ज्ञान वर्तता है, खुदको शुद्ध परिणति कितनी हुई है इसका ज्ञान भी वर्तता है, खुदको अशुद्धि कितनी रही उसका भी ज्ञान वर्तता है। अवस्थाकी शुद्धिका ज्ञान, अशुद्धिका ज्ञान अभी साधकदशा है न इसलिए अशुद्धि है और शुद्ध स्वरूपका ज्ञान - ये सब एक साथ ज्ञानमें (वर्तता) है। उसमें साधकको मुख्य-गौणका प्रश्न नहीं है। प्रमाणके दृष्टिकोणसे उसके परिणमनको देखा जाये तो। ऐसे लेना।

गुरुदेवने सब पढ़ा है न ! (उन्होंने) देखा कि क्या-क्या खोला है ! एक Issue खड़ा हुआ तो उसे कितने पहलूसे सोचते हैं !! (प्रमाणमें) मुख्य-गौणका प्रश्न नहीं है। यह तो चर्चा भी नहीं चलती है कि प्रमाणमें मुख्य-गौण होता है कि नहीं ? यह तो चर्चा भी नहीं चलती है। प्रमाणके पक्षवालेमें भी यह चर्चा नहीं चलती है कि, ये क्या कहते हैं ?

मुमुक्षु :- अब दूसरा पहलू - नयके

दृष्टिकोणसे सोचे तो ?

पूज्य भाईश्री :- यह तो आयेगा, अंतमें आयेगा आयेगा जरूर अतः उस दृष्टिकोणसे विचार करे तो थोड़ा ठीक रहेगा। इसमें सारे पहलू लिए हैं। प्रमाणके भी लिए हैं और नयके भी लिए हैं। दोनों बातें ली हैं। खुदने ही ली हैं।

मुमुक्षु :- विचार करनेमें गंभीरता काफी है !!

पूज्य भाईश्री :- हाँ, काफी (गंभीरता) ! गहराई काफी है !! अनुभव है न ! और अनुभवमें (भी) तीव्रता थी इसलिए गहराई भी काफी आती है। उनकी चर्चा पर जो स्पष्टता देनी पड़ी है उसका यह कारण है। ईडरमें थोड़ी चर्चा चली थी। एक बुद्धिवाले मुमुक्षुने कहा कि, इस पुस्तकका तो बहुत बार स्वाध्याय किया है परंतु हमारी बुद्धिमें नहीं आता। आपका परिचय है, शास्त्रोंका परिचय है, (फिर भी) इसमें इतनी गंभीरता है, उसे तो खोले बिना पता कैसे चले ? सर्व सामान्य मुमुक्षुको तो पता कैसे चले ? पाँच फ़रमे तो छप गये थे। स्पष्टीकरण की दृष्टिसे जहाँ स्पष्टीकरण देना पड़े (वहाँ देना), भले ही उन फ़रमोंको बदलना पड़े। फिर तो नीचेके क्रममें फर्क पड़े तो ऊपरमें भी सब बदलना पड़े। यह तो बाकी रकमके जैसा है, एक बाकीकी रकम फिरते ही सभी दिनोंकी बाकी रकममें फर्क पड़ता है। भले चाहे कितने भी कागज बिगड़े, भले ही इतनी छपाई (बेकार) जाये, (परंतु) स्पष्टीकरण तो दो, (ऐसा नक्की किया)। (उनके वचनोंमें) काफी गंभीरता !!

मुमुक्षु :- यह दूसरे मुद्देमें जो लिखा है कि मनआश्रित मान्यतासे नहीं होता है तो किस तरह होता है ?

पूज्य भाईश्री :- मनातीत दशासे (होता है)। मनआश्रित मान्यतासे नहीं परंतु पुरुषार्थको स्वसन्मुख करे तब यह (अखण्ड शुद्ध) वृत्तिका उद्भव होता है। स्वरूपकी सन्मुखताका पुरुषार्थ करते-करते अनुभव होता है। गुरुदेवकी भाषामें कहा जाये तो (ऐसा है)।

परमागमसारमें ४४६ नंबरका बोल है। **'भले**

ही शास्त्र-ज्ञान करे, धारणा-ज्ञान कर ले; पर 'पर्यायको स्वलक्ष्यमें ढालना' - यह अनंत पुरुषार्थ है, महान और अपूर्व पुरुषार्थ है। पुरुषार्थको स्वलक्ष्यी करे और (स्वरूप) निर्णय होते ही स्वरूपसन्मुखताका जो पुरुषार्थ शुरू होता है, उसे करते-करते अनुभव होता है। अन्य प्रकारसे नहीं होता। सादी भाषामें ले तो अनुभव करनेके लिए अनुभवका पुरुषार्थ चाहिए। अनुभवप्रत्ययी पुरुषार्थ चाहिए। अनुभव पद्धतिका पुरुषार्थ चाहिए और अनुभव हो उस प्रकारका पुरुषार्थ चाहिए, तो अनुभव होवे, वरना अनुभव नहीं होता, ऐसा है। शास्त्रज्ञान करे या धारणाज्ञान कर ले इससे क्या हो गया? ऐसा कहते हैं। पर्यायको स्वलक्ष्यमें ढालना, पर्यायको स्वलक्ष्यी करना, इसमें महान पुरुषार्थ है। ज्ञान

और पुरुषार्थ (दोनों लिए हैं)। लक्ष्यमें ज्ञान लिया। इसलिए तो कहा है - 'लक्ष्य थवाने तेहनो कहां शास्त्र सुखदायी।' भले ही सारे शास्त्र कहे हो परंतु एक (स्वरूप) लक्ष्य हो इसी हेतुसे (कहे हैं)। यदि लक्ष्य न हुआ तो तेरा सारा शास्त्रवांचन बेकार है।

देखो न ! (समयसारमें) १४४ (गाथाकी) टीकामें अमृतचंद्राचार्यदेवने क्या लिया ? कि, पक्षातिक्रान्त होनेके लिए प्रथम तो पक्ष करना। पक्ष करना अर्थात् प्रथम तो श्रुतज्ञान द्वारा ज्ञानस्वभावी आत्माका निर्णय करना। निर्णय करना कहो चाहे लक्ष्य करना कहो या अस्तित्व ग्रहण करना कहो - एक ही बात है।

(शेष अंश अगले अंक में..)

(श्रीमद् राजचन्द्र पत्रांक)

क्योंकि हमारे अनुभवज्ञानका फल वीतरागता है, और वीतरागता कहा हुआ श्रुतज्ञान भी उसी परिणामका कारण लगता है; इसलिये हम उनके वास्तविक और सच्चे अनुयायी हैं।

वन और घर ये दोनों किसी प्रकारसे हमें समान है; तथापि पूर्ण वीतरागभावके लिये वनमें रहना अधिक रुचिकर लगता है; सुखकी इच्छा नहीं है परंतु वीतरागताकी इच्छा है।

जगतके कल्याणके लिये पुरुषार्थ करने के बारेमें लिखा तो वह पुरुषार्थ करनेकी इच्छा किसी प्रकारसे रहती भी है, तथापि उदयके अनुसार चलना यह आत्माकी सहज दशा हुई है, और वैसा उदयकाल अभी समीपमें दिखायी नहीं देता; और उसकी उदीरणा की जाये ऐसी दशा हमारी नहीं है।

'भीख माँगकर गुजरान चलायेंगे परंतु खेद नहीं करेंगे; ज्ञानके अनंत आनंदके आगे वह दुःख तृण मात्र है' इस भावार्थका जो वचन लिखा है उस वचनको हमारा नमस्कार हो ! ऐसा वचन सच्ची योग्यताके बिना निकलना संभव नहीं है।

'जीव पौद्गलिक पदार्थ नहीं है, पुद्गल नहीं है, और पुद्गलका आधार नहीं है, उसके रंगवाला नहीं है; अपनी स्वरूपसत्ता के सिवाय जो अन्य है उसका स्वामी नहीं है, क्योंकि परका ऐश्वर्य स्वरूपमें नहीं होता। वस्तुधर्मसे देखते हुए वह कभी भी परसंगी भी नहीं है।' इस प्रकार सामान्य अर्थ 'जीव नवि पुग्गली' इत्यादि पदोंका है।

'दुःखसुखरूप करम फल जाणो, निश्चय एक आनंदो रे।

चेतनता परिणाम न चूके, चेतन कहे जिनचंदो रे।।'

(श्री वासुपूज्य स्तवन-आनंदघनजी)

पूर्ण नहीं, अपूर्ण है; विकल्प और विभाव का समूह अभी मौजूद है ऐसा वह जानता है और उस विभाव से अपनी परिणति को पृथक् करता हुआ पुरुषार्थ करता रहता है। दृष्टि के साथ विभाव से छूटने के पुरुषार्थ की डोर अपने साथ ही साथ रखता है। विभाव में एकत्व नहीं होता और उनकी जितनी उग्रता होती है तदनुसार पुरुषार्थ करता जाता है।

इस प्रकार पुरुषार्थ करते-करते उसकी भूमिका बदल जाती है। चौथी भूमिका के पश्चात् पाँचवीं, फिर छठवीं-सातवीं भूमिका में वह अपने स्वभाव की डोर ज्यादा खींचते रहने से ज्ञानकी उग्रता, ज्ञाताधारा की तीक्ष्णता एवं विरक्ति बढ़ती जाती है। स्वभाव की निर्मलता विशेष होती रहती है और स्वानुभूति की दशा बढ़ती जाती है। उसकी दृष्टि बराबर बनी हुई है और पुरुषार्थ की डोर भी साथ ही साथ चल रही है।

(स्वानुभूतिदर्शन-२४९)



प्रश्न :- ज्ञानका फल विरति है तो मुमुक्षुकी भूमिकामें विभावसे अल्प अंश में रहित तो होना चाहिये न ?

समाधान :- यथार्थ ज्ञान प्रगट हो, ज्ञायककी धारा प्रगट हो उसका फल विरति है, इसलिये जिसे ज्ञायककी धारा प्रगट हो उसे विरक्ति आ जाती है, वह विभावसे भिन्न हो जाता है, अनन्तानुबंधी कषायें टूटकर अंशतः स्वरूपरमणता प्रगट होती है। ज्ञानका फल विरति है। अतः ज्ञायककी धारा प्रगट होती है, उसमें उसे अमुक अंशमें विभाव छूट जाता है।

मुमुक्षु भूमिका में जहाँ जिज्ञासा प्रगट हुई वहाँ वह विचार-पठन करे उसके साथ उसे अमुक वैराग्यादि होते ही हैं; नहीं तो उतनी रुचि ही नहीं है। आत्मा के प्रति रुचि जाये और विभावका रस न छूटे तो उसे तत्त्व की रुचि ही नहीं। विभावका रस छूटना ही चाहिये। ज्ञायककी धारा प्रगट हो, वह यथार्थ विरति है। जिज्ञासुको अभ्यासकाल में आत्माकी रुचि जगे उसे विभावका रस छूटना ही चाहिये। वह तत्त्वविचार करे, स्वाध्याय करे परंतु अंतरसे इतना वैराग्य न आये तो यथार्थ रुचि ही नहीं है। रुचिके साथ ही उसे अल्प विरक्ति और अंतर से विभाव का रस छूट जाना चाहिये।

(स्वानुभूतिदर्शन-२५०)

करुणासागर पूज्य भाईश्री 'शशीभाई' की ७९वीं जन्म-जयंती प्रसंग पर धार्मिक कार्यक्रम

मुमुक्षुजीवों के परम तारणहार पूज्य भाईश्री शशीभाई का आगामी ७९वाँ जन्म जयंती महोत्सव मार्गशीर्ष सुदी-४, दि. २९-११-११ से मार्गशीर्ष सुदी-८, दि. ३-१२-११ पर्यंत अत्यंत आनंदोल्लासपूर्वक मनाया जायेगा। इस प्रसंग पर मंडल विधान पूजन, पूज्य भाईश्री के ऑडियो एवं विडियो सी.डी. प्रवचन, पूज्य गुरुदेवश्री के विडियो सी.डी. प्रवचन, पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन की तत्त्वचर्चा, भक्ति, सत्संग, सांस्कृतिक कार्यक्रम रहेंगे और दि. २-१२-२०११ के दिन जिनेन्द्र रथयात्रा का कार्यक्रम रहेगा।

इस प्रसंग पर आनेवाले मुमुक्षु ट्रस्ट के कार्यालय में यहाँ पर पहुँचने की तारीख लिखें, जिससे उनकी आवास एवं भोजन की समुचित व्यवस्था हो सके।

कार्यक्रम स्थल :- श्री शशीप्रभु साधना-स्मृति मंदिर, प्लोट नं. १९४२-बी, शशीप्रभु चोक, रूपाणी सर्कल के पास, भावनगर-३६४००१

संपर्क : श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट, ५८०, जूनी माणेकवाड़ी, पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी मार्ग, भावनगर-३६४००१.

पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा

प्रश्न :- क्या प्रगट करनेकी अपेक्षासे पर्यायको उपादेय कहनेमें आता है ?

समाधान :- हाँ, पर्यायको प्रगट करने की अपेक्षा से उपादेय कहा है, उसमें उसे पुरुषार्थ करना रहता है। साधकको स्वानुभूतिकी दशा प्रगट हुई है, उस स्वानुभूतिमें प्रतिक्षण वृद्धि हो और फिर स्वयं स्वानुभूतिरूप ही हो जाय अर्थात् जैसा आत्मा है उस रूप ही स्वयं हो जाय ऐसी दशा अभी प्रगट नहीं हुई है, इसलिये पर्याय प्रगट करने की अपेक्षा आदरणीय है।

मुनि छठवें-सातवें गुणस्थानमें झूलते-झूलते अंतर्मुहूर्त में अंतरमें जाते हैं और बाहर आते हैं तथापि अभी पर्याय अपूर्ण होनेसे साधनाकी परिणति चलती ही रहती है। छठवें-सातवें गुणस्थानकी दशामें 'मैं प्रमत्त नहीं हूँ या अप्रमत्त नहीं हूँ' ऐसी दृष्टि होनेपर भी मुनि उस साधनाकी पर्याय में झूलते हैं। उसमें वृद्धि होनेपर श्रेणि चढ़कर केवलज्ञान प्रगट करते हैं। उस साधनामें परिणतिकी डोर अपने स्वभावकी ओर है, ज्ञान ज्ञान को खींचता हुआ अपनी ओर जाता है। साधना में ऐसा होता है तथापि दृष्टि एक आत्मापर है, दृष्टि सबको हेय करती है, दृष्टि सबको गौण करती है।

(स्वानुभूतिदर्शन-२४७)



प्रश्न :- 'ज्ञान ज्ञानको खींचता हुआ' ऐसा आपने बतलाया उसका भाव क्या ? वह समझानेकी कृपा करें।

समाधान :- ज्ञान अर्थात् पुरुषार्थका लगाव वह, जो परिणति विभावकी ओर जाती थी उसे स्वभावकी ओर खींचता है, साधनाको बढ़ाता है और भेदज्ञानकी धाराको उग्र करता जाता है।

दृष्टि प्रगट होनेके पश्चात् कुछ करना ही

बाकी नहीं रहता ऐसा नहीं है। दृष्टि होनेके बाद सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट हुआ, अभी उसमें लीनता प्रगट करनी बाकी है। भेदज्ञानकी धाराको उग्र करके दृष्टिका बल बढ़ाता जाता है, अपनी परिणतिको एकदम अपनी ओर मोड़ता रहता है, विभावकी ओर जानेवाली परिणतिको स्वभावकी ओर खींचता रहता है। दृष्टि में पर्याय को हेय मानता है, तथापि पुरुषार्थकी डोर चालु है। 'मैं तो अखंड हूँ' तथापि यह विभावकी पर्याय हो रही है, स्वभावकी पर्याय अपूर्ण है वह सब जानता है और पुरुषार्थ की डोर अपनी ओर खींचता जाता है। (स्वानुभूतिदर्शन-२४८)



प्रश्न :- शास्त्रभाषा में कहा जाता है कि पर्याय प्रगट करनेकी अपेक्षा से उपादेय है; परन्तु आपने जो कहा उससे बहुत अच्छी तरह स्पष्टीकरण हुआ है। साधना में साधक को ऐसे परिणाम आते हैं, यह बात आपने बहुत अच्छी बतलायी। इसे विशेष समझायें।

समाधान :- साधना में ऐसे परिणाम साथ होते ही हैं। उसकी दृष्टि ज्ञायकपर स्थापित रहती है; दृष्टि ज्ञायक से हटती नहीं है। 'मैं ज्ञायक हूँ' ऐसे ज्ञायक का जो अस्तित्व ग्रहण किया है; विभाव से न्यारा, अपूर्ण या पूर्ण पर्याय जितना भी मैं नहीं तथा गुण के भेद भी मुझमें नहीं; ऐसी जो दृष्टि ज्ञायकपर स्थापित हुई वह दृष्टि वहाँ से खिसकती ही नहीं है। तथापि उसे ज्ञान में है कि - यह विभाव खड़ा है, पर्याय अभी अपूर्ण है, स्वभावका वेदन अंशतः होता है; स्वानुभूति की दशा प्रगट हुई है, ज्ञायक की सविकल्पधारा में अंशतः शान्तिका वेदन होता है परन्तु अभी वह

(शेष अंश पृष्ठ संख्या-१९ पर)



रविवार, १९४८

लौकिकदृष्टिसे आप और हम प्रवर्तन करेंगे तो फिर अलौकिकदृष्टिसे कौन प्रवर्तन करेगा ?

आत्मा एक है या अनेक है, कर्ता है या अकर्ता है, जगतका कोई कर्ता है या जगत स्वतः है, इत्यादि विषय क्रमशः सत्संगमें समझने योग्य हैं, ऐसा मानकर इस विषयमें अभी पत्र द्वारा नहीं लिखा गया है।

सम्यक्प्रकारसे ज्ञानीमें अखंड विश्वास रखनेका फल निश्चय ही मुक्ति है।

आपको संसारसंबंधी जो जो चिंताएँ हैं उन्हें प्रायः हम जानते हैं, और इस विषयमें आपको अमुक अमुक विकल्प रहा करते हैं उन्हें भी जानते हैं। और आपको सत्संगके वियोगके कारण जो परमार्थचिंता भी रहती है उसे भी जानते हैं। दोनों प्रकार के विकल्प होने से आपको आकुल-व्याकुलता प्राप्त होती हो, इसमें भी आश्चर्य नहीं लगता अथवा यह असंभवरूप मालूम नहीं होता। अब इन दोनों प्रकारोंके लिये हमारे मनमें जो कुछ है उसे स्पष्ट शब्दोंमें नीचे लिखनेका प्रयत्न किया है।

संसार संबंधी आपको जो चिंता है उसे उदयके अनुसार वेदन करें, सहन करें। यह चिंता होनेका कारण ऐसा कोई कर्म नहीं है कि जिसे दूर करने के लिये प्रवृत्ति करते हुए ज्ञानी पुरुषको बाधा न आये। जबसे यथार्थ बोधकी उत्पत्ति हुई है, तबसे किसी भी प्रकार के सिद्धियोगसे या विद्याके योगसे स्वसम्बन्धी या परसम्बन्धी सांसारिक साधन न करनेकी प्रतिज्ञा है; और इस प्रतिज्ञाके पालन में एक पलके लिये भी मंदता आज दिन तक आयी हो यह याद नहीं आता। आपकी चिंता जानते हैं, और हम उस चिंता के किसी भी भागको यथाशक्ति वेदन करना चाहते हैं। परंतु ऐसा तो कभी भूतकालमें हुआ नहीं है, तो अब कैसे हो सकता है ? हमें भी उदयकाल ऐसा रहता है कि अभी ऋद्धियोग हाथमें नहीं है।

प्राणीमात्र प्रायः आहार, पानी पा लेते हैं। तो आप जैसे प्राणीके कुटुम्बके लिये उससे विपरीत परिणाम आये ऐसा मानना योग्य ही नहीं है। कुटुम्बकी लाज वारंवार आड़े आकर जो आकुलता उत्पन्न करती है, उसे चाहे तो रखें और चाहे तो न रखें, दोनों समान है, क्योंकि जिसमें अपनी निरुपायता है उसमें तो जो हो उसे योग्य ही मानना, यही दृष्टि सम्यक् है। जो लगा वह बताया है।

हमें जो निर्विकल्प नामकी समाधि है वह तो आत्माकी स्वरूपपरिणति रहने के कारण है। आत्मा के स्वरूपसंबंधी तो हमें प्रायः निर्विकल्पता ही रहना संभव है, क्योंकि अन्यभावमें मुख्यतः हमारी प्रवृत्ति ही नहीं है।

बंध-मोक्षकी यथार्थ व्यवस्था जिस दर्शनमें यथार्थरूपसे कही गयी है, वह दर्शन निकट मुक्तिका कारण है; और इस यथार्थ व्यवस्थाको कहने योग्य यदि किसीको हम विशेषरूपसे मानते हों तो वे श्री तीर्थकरदेव हैं।

और आज इस क्षेत्रमें श्री तीर्थकरदेवका यह आंतरिक आशय प्रायः मुख्यरूपसे यदि किसीमें हों तो वे हम होंगे ऐसा हमें दृढ़तापूर्वक भासित होता है।

(शेष अंश पृष्ठ संख्या-१८ पर)



परमकृपालु श्रीमद् राजचंद्रजी की जन्मजयंती प्रसंग पर कोटी कोटी वंदन

